सर्वोदय प्रकाशन
दिल्ली

जैनेन्द्र की कहानियाँ

जैनेन्द्र-साहित्य [१८]

जैनेन्द्र-साहित्य [१८]

जैनेन्द्र की कहानियाँ

[सातवाँ भाग]

'टकराहट' (एकांकी) तथा 'राजीव और भाभी'
और अन्य कहानियाँ]

सर्वोदय साहित्य मंदिर,
कोठी, (बसस्टैण्ड,) हैदराबाद द.

पूर्वोदय प्रकाशन
७, दरियागंज, दिल्ली

पूर्वोदय प्रकाशन
७, दरियागंज, दिल्ली

प्रथम संस्करण
१९५४

मूल्य
साढ़े तीन रुपए

पूर्वोदय प्रकाशन, ७ दरियागंज, दिल्ली की ओर से दिलीपकुमार
द्वारा प्रकाशित और न्यू इण्डिया प्रेस, नई दिल्ली में मुद्रित

नायर—अमरीका से यह तार भी आया है।

[तार देता है।]

कैलाश—(पढ़कर) इन्हें लिख तो दिया न कि खुशी से आवें।

नायर—मालूम होता है कि मिस सिक्लेअर की खातिर—। एक तार उनके नाम भी था।

कैलाश—तो ?

नायर—मैं...फिर...देख लीजिए।

कैलाश—(खिलखिलाकर हँसते हुए) वह मैं समझा। तुम सब सरल चाहते हो। पर वक्र से हमें डरना न चाहिए। तार दे दो कि जरूर आवें। अच्छा, अब लीला को भेज दो। याद रखो, लीला। न मिस, न लिली।

[नायर चला जाता है। कैलाश सामने के कागजों में लगते हैं।]

कैलाश—रामदास, इनमें से कोई ऐसा तो नहीं है जो कल तक ठहर सके।

रामदास—जी, सब जरूरी हैं।

कैलाश—अच्छा, तो मुझे सुनाते जाओ। जवाब लिखते जाना।

रामदास—(पास बैठकर पढ़ना शुरू करता है) मजदूरों के साथ किये मुआहिदे को फिर मालिकों ने तोड़ दिया है। हड़ताल का छठा रोज है। आप कब तक पहुँच सकेंगे ? या तारीख दें कि हमारे प्रतिनिधि आवें।

कैलाश—शनिवार लिख दो। पाँच बजे। और देख लो कि वह वक्त खाली है न।

रामदास—(पढ़ता है) अदायगी की तारीख आ गई है। सेठ जी आपके आदेश बिना कुछ न करेंगे। ऐसा न हो कि नौबत अदालत की आवे। कृपया सेठ जी को प्रेरित करें। आज्ञा दें तो सेवा में पहुँच कर मामला सब खुलासा रखूँ।

कैलाश—पटना की गोशाला की बात है न ? वहाँ सिंह बाबू से तार से हाल मँगा लो। सेठ जी से भी विवरण माँगो। (कुछ आहट पा ऊपर आँखें उठाते हैं तो दीखते हैं नायर) आ गए ! ले आओ—(लीला का प्रवेश) आखिर पाँच दिन बाद में मिल तो गया ! बढ़ी चली आओ। पर देखो मैं बूढ़ा हूँ, उठ नहीं सकता।

[खिलखिलाकर हँसते हैं। लिली पास आती है। गद्दे पर ही जरा सरक कर उसके लिए जगह कर देते हैं। पर वह पास नीचे फर्श पर बैठ जाती है।]

कैलाश—(मुस्करा कर) रामदास, अपने कागज छोड़ो और भागो। (रामदास चला जाता है। लिली से) गद्दे से फर्श ठण्डा है, शायद इसी से नीचे बैठी हो। ठीक। सुना तुम इन पाँच दिन खूब तरसीं। पर मेरा क्या हाल रहा, यह भी जानती हो ? मेरा तुम से अच्छा हाल नहीं रहा। कहो, तुम्हें मालूम हुआ कि नहीं कि तुम अब लीला हो। बेशक शर्त यह कि तुम लीला होना पसन्द करो।

लिली—मैं हिन्दुस्तानी नहीं हूँ।

कैलाश—हिन्दुस्तान में तो हो। (हँसते हैं) रोम में रोमन, हिन्दुस्तान में हिन्दुस्तानी। बोलो मंजूर ?...पर मेरा पूछना व्यर्थ है। यह साड़ी बता रही है। खद्दर की साड़ी में कैसी भली लगती हो, कुछ मालूम हे ? खैर यही है कि यहाँ कोई आइना नहीं है। (खिलखिलाकर हँसते हैं) चाहती हो, आइना मँगाऊँ ?

लीला—मुझे यहाँ कई रोज हो गये...

कैलाश—हाँ, मैं भूला। सबसे पहले मुझे माफी माँगनीं थी। पर मुझे तो दौरे पकड़े रहते हैं। आज यहाँ, तो कल वहाँ। लेकिन तुम्हें आकर क्या यहाँ रह जाना था ? जहाँ होता वहीं पहुँच मुझे पकड़ लेतीं। मैं तो डरता था कि अमरीका से आ रही हो तो आसानी से मुझे छुट्टी न होगी। अमरीकन पक्के शिकारी होते हैं। तुम्हें यहाँ कोई कष्ट तो नहीं हुआ ?

लीला—नहीं, कष्ट कोई नहीं।

कैलाश—हिन्दुस्तानी खाना चल तो जाता है ? मिज़ाज़ न हो तो यहाँ का खाना बुरा तो नहीं होता। (खिलखिलाकर हँसते हैं।)

लीला—मुझे यह खाना बहुत अच्छा लगता है।

कैलाश—हाँ ? तब तो हम असभ्य नहीं हैं। कला के पास वाले कमरे में ही हो न ? याद रखना, वह अब क्लेरा नहीं है। मैं चाहता हूँ कि तुम उसे समझा सको कि तपस्विनी न बने। देह सुखाने के लिए तो हमें नहीं मिली।

लीला—उन्होंने तो मुझे ऐसे रखा जैसे मैं घर में हूँ। लेकिन आप बताइए, क्लेरा के साथ मुझे भी आप अपनी शरण में रख सकते हैं ?

कैलाश—शरण ! प्रभु ईसा की शरण तुमने गही, तब फिर क्या चाहिए ? और यह धरती ईश्वर की है। यहाँ कौन किसको शरण देने का दम्भ कर सकता है। तुम्हारा घर है; आओ, रहो। कहो, क्या तुम यहाँ रहना चाहती हो ?

लीला—हाँ, रहना भी चाहती हूँ। पर क्या आप कहते हैं मुझे यहाँ वह मिलेगा जो मैं चाहती हूँ ?

कैलाश—क्या, सुख ? (खिलखिलाकर हँसते हैं।)

लीला—सुख तो नहीं, लेकिन मैं दुःख से बचना चाहती हूँ। मैं अपने से, दुनिया से बचना चाहती हूँ। मैं अमरीका से भागी आई हूँ, क्यों ? सुना था कोई हिन्दुस्तान में कैलाश है जिसे दुनिया नहीं छूती। क्या यह सच है ? यहाँ दुनिया मुझे नहीं छू सकेगी ? अगर कहो कि ऐसा है तो मैं यहाँ रहना चाहती हूँ।

कैलाश—(हँसकर) तुम्हारा सवाल तो बड़ा है। (हाथ घड़ी में लेकर उसे देखते हुए) पर अभी तो तुम हो ही। अब हम फिर शाम को मिलें। या शाम को सोने के पहले। शाम को साथ घूमने चल सकती हो।

लीला—क्या आपके किसी और काम का समय हो गया है ?

कैलाश—हाँ, सो तो हो ही गया है। वैसे भी मिलने-जुलने का समय और है। पर तुम्हें शंका की जरूरत नहीं है। शाम को फिर बातें होंगी। मुझे अमरीका और योरुप के बारे में बहुत कुछ जानना है। तुमने भी इस छोटी उम्र में विचित्र अनुभव पाये हैं। अभी तीस की तो नहीं हुई हो न ?

लीला—अगले जन्म-दिन पर छब्बीस वर्ष पूरे होंगे।

कैलाश—(खिलखिला कर हँसते हुए) लेकिन मैं बूढ़ा हो गया। पर देखोगी कि तुम्हारे सामने मैं तीस वर्ष का-सा दीखने का साहस करूँगा। फिर भी घड़ी पल-पल चलती है। समय किसी को जवान रहने देता है ! तुम्हारी अंगरेजी में कहावत है, Time is money लेकिन Time is much more. Money is nothing. (घड़ी आगे करके) And one time is up.

लीला—अब मैं जाऊँ ?

कैलाश—शाम को फिर मिलने के वायदे पर जाओ।

लीला—मुमकिन है, मैं आज ही लौट जाना चाहूँ।

कैलाश—आज कैसे लौटोगी ? मुझे समय दिए बिना जा सकोगी ?

लीला—देखती हूँ, मैं आपका हर्ज करती हूँ। मैं हर्ज करना नहीं चाहती।

कैलाश—तभी तो कहा, हम शाम को मिलें। समय दो कि मैं बूढ़ा भी अपना प्रेम जतला सकूँ।

[खिलखिलाकर हँसते हैं।]

लीला—प्रेम ! आप उसे जानते हैं ?

कैलाश—ओ राम, और मैं किसे जानता हूँ !

लीला—आपको विश्वास है, आप हृदय-हीन नहीं हैं ?

कैलाश—डाक्टरों ने अभी तक ऐसा नहीं बताया। और मुझे भरोसा है कि देखकर तुम भी यह फैसला न दो।

लीला—आप अपना काम करें। आप को बहुत काम है। मैं आज ही लौट जाना चाहती हूँ।

कैलाश—नहीं, मुझे मौका दोगी। मौका देने से पहले मुझे अपराधी बनाना न्याय नहीं है। और तीसरे पहर के समय थोड़ा आराम...

लीला—आराम मुझे नहीं चाहिए।

कैलाश—(खिलखिलाकर) तो भाई, मुझे तो चाहिए। मैं बूढ़ा हूँ। और यह कागजों का पुलिंदा मेरा आराम है। ऐसी हालत में तुम इस बूढ़े आदमी पर अकृपा करोगी? मैं जानता हूँ, तुम मुझे अवसर देना चाहोगी। मैं, समय मिलते, बोलो, तुम्हारे कमरे की ओर आऊँ? देखना चाहता हूँ इस देहाती घर में तुमने अपना अमरीका कैसे सुरक्षित रखा है।

लीला—शाम आप अकेले हो सकते हैं?

कैलाश—देखता हूँ, तुम कठिन हो। तिस पर हृदयहीन मुझे कहा जाता है। (खिलखिलाकर हँसते हैं।) अकेली मेरी शाम चाहती हो, तो वह सही।

[लीला इस पर बिना कुछ बोले चली जाती है।]

कैलाश—रामदास, लो भाई, अब आ जाओ।

[रामदास पास आकर पढ़ना चाहता है। कैलाश तकिये पर झुक कर मानो जरा विश्राम करते हैं।]

दूसरा दृश्य

[सन्ध्या, नदी का किनारा। कैलाश और लीला।]

कैलाश—चली चलोगी, या यहाँ बैठें। (नदी-तट की एक चट्टान की ओर बढ़ते हुए) आओ, बैठो।

[कैलाश बैठते हैं। जरा नीचे की ओर लीला भी बैठ जाती है।]

कैलाश—कहो-कहो, रुको नहीं। बस इतना याद रखना है कि प्रार्थना का समय साढ़े-सात है।

लीला—मैं कहती थी, मैं पूछना चाहती हूँ कि पाप क्या चीज़ है। मैं पाप नहीं मानना चाहती। आप सच क्या उसे मानते हैं ?

कैलाश—पाप को नहीं मानने के लिए प्रार्थना है।

लीला—मैं अब तक आश्रम की प्रार्थना में नहीं शामिल हुई। न होना चाहती हूँ। आप इससे नाराज हैं ?

कैलाश—बात तो नाराज होने की है।

लीला—तो आप नाराज हो सकते हैं। मैं यहाँ कुछ रोज रहना भी चाहती हूँ और अपने मन के खिलाफ भी कुछ नहीं करना चाहती। आप कहेंगे तो मैं नहीं रहूँगी। अगर मुझे अपनी तरह रहने देकर भी रख सकते हैं तो मै जरूर यहाँ कुछ दिन रहना चाहती हूँ। मुझे जानना है कि वह शान्ति क्या है जो आपके आस-पास प्रतीत होती है। क्या वह जड़ता से कुछ भिन्न है।

कैलाश—अच्छी तो बात है। रहो और जानो। लेकिन देखो, विद्रोह झेलने की चीज़ है। फैलाने की वह चीज नहीं। द्वन्द्व भड़काना नहीं चाहिए। उसकी मन्दता उत्तम है।

लीला—मन्दता क्या जड़ता नहीं है। सन्तोष भी हीनता है। आसमान कितना बड़ा है, कैसा नीला है, कैसा सूना है। चिड़िया कहाँ-कहाँ उड़ जाती है। मैं क्यों न उनकी तरह उड़ना चाहूँ। क्यों न मैं आसमान बन जाना चाहूँ। मुझे क्यों हक नहीं है कि मैं बेचैन रहूँ। फिर आपकी शान्ति मुझे असम्भव लगती है। शान्ति अन्धे बनने में है। आँख खोलकर जो शान्त है वह...उसे मैं नहीं समझती। हाँ, अगर है तो शान्ति पाप है। अपनी अपूर्णताओं को लेकर कोई कैसे शान्त हो सकता है।

कैलाश—(मुस्कराकर) ठीक तो है !

लीला—क्या ठीक है ! अशान्ति ठीक है। अशान्ति को आप समझते भी हैं ? मैं अशान्त हूँ। मुझे बताइये मैं क्या करूँ ?

कैलाश—प्रार्थना में शामिल हुआ करो।

लीला—छोड़िए प्रार्थना। मैं अपना दिल आपके सामने रखती हूँ। जी में होता है, मैं चलती रहूँ, चलती रहूँ। एक छन न ठहरूँ। आज आकाश, कल पाताल। मुझे होश रहे ही नहीं, ऐसी बेहोश रहूँ। अच्छा, सच बताइए, आपने कभी नशा किया है ?

कैलाश—नहीं।

लीला—तब आप कुछ नहीं जानते हो। मैं चाहती हूँ नशा, जो उतरे नहीं।

कैलाश—जो नहीं उतरता, वह भी क्या फिर नशा रहा ? लेकिन अगर नशा हो तो सामने देखती तो हो,—उस नशे के लिए शराब हर घड़ी हर कहीं मौजूद है। नदी बह रही है; पेड़ हौले-हौले हिल रहे हैं; घास हरियाली बिछी है; आसमान है, जो सब को लेकर फिर भी सूना है; और यह धरती जो सब सहती है और गूँगी है। इस सब-कुछ के भीतर क्या वह नहीं है जो अक्षय है ? वह कभी नहीं चुकता। उसका नशा कभी नहीं चुकता। उसको चाहो, उसको पाओ। वह नशा है, जो उतरेगा नहीं। वह अशान्ति में भी शान्ति देगा।

लीला—बस। मैं और नहीं सुन सकती। आपका मतलब है, ईश्वर। और मतलब है, धर्म। मुझे नहीं चाहिए ईश्वर, नहीं चाहिए धर्म। ईश्वर को मैंने ढकोसला पाया है। मैं चाहती हूँ चैन। मुझे यह भीतर से क्या उकसाहट सताती रहती है। मानो कोई कहता रहता है, 'और आगे !' 'और आगे !' ऐसा जी क्यों होता है कि सब पा जाऊँ, और फिर उस सब को मसल दूँ। सबको पैरों के नीचे रौंद दूँ और फिर छाती से लगा लूँ !

कैलाश—(करुणा की हँसी हँसकर) मैं समझता हूँ। आज चलो

प्रार्थना में शामिल होओ। मेरे विचार में शान्ति अपनी मर्यादाओं की स्वीकृति है। प्रार्थना में हम अपनी सीमाओं को कृतज्ञ भाव से स्वीकार करते हैं। प्रार्थना में हम अपने को अज्ञ मानते हैं, इसी कारण प्रार्थना से बल मिलता है।

लीला—नहीं-नहीं। अपनी मर्यादाएँ मुझे काटती हैं। मैं खुल जाना चाहती हूँ, जैसे हवा। जिसके लिए कहीं रोक नहीं, कहीं निषेध नहीं। जिसका नियम सब अपने में है।

[कैलाश की ओर मानो अवश भाव से देखती है। कैलाश मुस्कराते रह जाते हैं।]

लीला—आप हँसते हैं। हँसना निर्दय है। फिर भी आपके ही सामने में आज सब कहूँगी। आपके पास अमरीका से एक तार आया है। जो व्यक्ति आना चाहता है, वह मुझे बेहद प्रेम करता है। मैं उसके प्रेम को प्रेम करती हूँ। लेकिन उसकी भूख ऐसी है कि वह चाहता है कि मैं उसी के लिए होऊँ। मैं क्या करूँ ? औरों ने भी मुझे प्रेम किया है। उन सबके प्रेम को मैंने प्रीति-पूर्वक स्वीकार किया। मैं किसी एक आदमी के लिए किसी दूसरे आदमी के प्रेम को कैसे छोड़ूँ। मैं कुछ नहीं छोड़ना चाहती। यह आदमी नरक तक मेरा पीछा करना चाहता है कि मुझे स्वर्ग में ले जाये। मुझे उसके सदाशय पर विश्वास है। मुझे उसके स्वर्ग पर विश्वास है। पर मैं वह नहीं चाहती। मुझे अपने भाग्य पर विश्वास नहीं है। वह आदमी मुझे इतना प्यार करता है कि उसका सारा प्यार मैं न ले सकी तो अचरज नहीं कि इसी पर वह मुझे मार दे। मुझे मरने से डर नहीं है। उसके हाथों मरना मुझे न लगेगा। लेकिन मुझे मारने के बाद उसकी क्या हालत होगी, यह सोचती हूँ तो डर जाती हूँ। फिर भी मैं अपने तन को उसके हाथ में नहीं सौंप सकती मैं विवाह नहीं कर सकती। अब तक जिन्होंने मुझे प्रेम किया, उन सबके प्रति विवाह कृतघ्नता होगी। मैं तंग हूँ। आप मुझे अपने आश्रम में

रहने दें तो बड़ा ग्राभार हो। पर मुझ में विष है जो मैंने बता दिया। मुझे इस ग्राश्रम पर, ग्राप पर, सब पर, ईर्ष्या होती है। बच्चा हँसता है तो मुझे क्रोध ग्राता है। कोई कैसे धीर, कैसे शान्त कैसे प्रसन्न रह सकता है, जब मुझमें इतने प्रश्न ग्रौर इतनी ग्रशान्ति भरी हुई है। कहाँ से यह सब-कुछ मेरे भीतर ग्राया है। ग्रब तो पढ़ना भी छोड़ दिया है। फिर कल्पना क्यों नहीं चुप रहती ? जान पड़ता है गति मुझे चाहिए,—गति, गति, गति। रुकी कि मरी। लेकिन भागते रहने से मैं तंग हूँ। चाहती हूँ कोई मुझे जबरदस्ती पकड़ ले ग्रौर रोक ले। ग्राप क्या मुझे रोक नहीं सकते हैं ?

कैलाश—तो यहाँ मत रुको। ग्रँधेरा हो रहा है। ग्रब चलें।

[**खड़े हो जाते हैं। लीला गिरकर उसके पैर पकड़ लेती है।**]

लीला—थोड़ा रुकिए। ग्रँधेरे से मुझे डर लगता है। वह मुझे लीलने को ग्राता है। लेकिन मैं ग्रभी ग्राप को यहाँ से हटने देना नहीं चाहती। प्रार्थना में क्या थोड़ी देर बहुत होगी ?

कैलाश—चलो, तुम भी प्रार्थना में चलो।

लीला—जरा देर रुक नहीं सकते ?

कैलाश—देखो यह घड़ी। यह कहती है कि चलो। इसका कहना काल-देवता का ग्रादेश है। (हाथ पकड़कर लीला को उठाते है।) चलो, उठो।

[**लीला चुपचाप उठकर साथ चल देती है, जैसे मन्त्र-बद्ध हो। सहसा वह चिहुँकती है, चकिता-भीता-सी देखती है।**]

लीला—ग्राप वहाँ इनकार लिख दीजिए।

कैलाश—कहाँ, ग्रमरीका ? मैंने लिख दिया है कि वह जरूर खुशी से यहाँ ग्रावें।

लीला—नहीं-नहीं। मैं उस राह नहीं जाऊँगी।

कैलाश—घबराग्रो नहीं।

लीला—मैं उधर न जाऊँगी। मैं अपने को मोड़ूँगी। मैं प्रार्थना में शामिल होऊँगी। मैं आश्रम-वासिनी बनूँगी। उन्हें आप जरूर इनकार लिख दें। मैं क्लेरा से कम नहीं होऊँगी। आप फौरन इनकार का तार दे दें।

कैलाश—घबराओ नहीं।

लीला—वचन दीजिए कि आप चार्ल्स को मुझ तक न आने देंगे। मुझ से न मिलने दोगे। मैं उनकी निगाह के नीचे बेबस हो जाती हूँ! उनकी आँख में न जाने क्या है। लेकिन आप देखेंगे कि मैं क्लेरा से कम नहीं हूँ।

कैलाश—सुनो। अगर आश्रम की बनकर आश्रम में रहना चाहती हो, तो कल से अपने उपयुक्त काम चुन लो। यह याद रखो कि तुम सदा आजाद हो! अपना शासन शक्ति देता है, दूसरे का शासन बन्धन है। हम सबको स्वाधीन चाहते हैं। इसलिए कैसा भी खटका तुम्हें मन में नहीं रखना चाहिए। मेरी सलाह है कि कल से कोई काम तुम अपने ऊपर ले लो। उससे चित्त स्थिर होगा।

लीला—वचन दीजिए आप चार्ल्स को मुझ से दूर रखेंगे।

कैलाश—मैं दूरी में विश्वास नहीं रखता। मैं पास होने में विश्वास करता हूँ। ऐसे पास कि एक। मैं तुम्हें किसी से दूर नहीं, सब के पास देखना चाहता हूँ। उससे भी अधिक पास, जितने उनके हृदय। जैसे उनकी आत्मा। (कहते हुए लीला के कन्धे पर हाथ रख लेते हैं।) किससे दूरी की जरूरत है? सब एक हैं। घबराओ नहीं। जो अपने को निवेदित कर सकता है, वह ईश्वर का आशीर्वाद पाता है। ईश-कृपा से पाप क्षार हो जाता है। (लीला अपने मुँह को हाथों में छिपा लेती है।) ईश्वर जिसका साक्षी है, वह जग के प्रति निर्भीक बनता है। ईश्वर के प्रति कातर, मानव के प्रति निर्मम। क्यों घबराती हो?

लीला—मैं अबला हूँ।

कैलाश—बल बस प्रभु है। उसके हाथ में अबल रहना ही हमारा बल है।

लीला—वचन दीजिए कि मुझे अपनी शरण में रखेंगे।

कैलाश—हम मानव दास हैं। हम अपूर्ण हैं। ईश्वर अशरण-शरण है।

[लीला चलते-चलते एक उच्छ्‌वास के साथ धरती पर बैठ जाती है।]

कैलाश—क्यों-क्यों ? क्या हुआ ?

लीला—(दर्द भरे स्वर में) कुछ नहीं। मुझे छोड़िए।

कैलाश—क्या है ? कहीं दर्द उठ आया है ?

लीला—हाँ, दर्द का दौरा हो आता है। होकर फिर चला जाता है। चिन्ता न कीजिए। आप जाइए।

[छाती अपनी मसोसती है।]

कैलाश—पुराना रोग है ? शायद हृदय का रोग है।

लीला—हाँ, हृदय का रोग। कई बरस से है। आह !

[कराह के साथ दोनों हाथों से दिल को दबाती है।]

कैलाश—देखूँ, पीठ पर ले सकता हूँ क्या ? देखो ऐसे...

[उसे उठाने का प्रयास करते हैं और बताते हैं।]

लीला—नहीं। आप जाएँ। मैं कुछ देर में आप पहुँच जाऊँगी। आपका प्रार्थना का समय आ गया है।

कैलाश—हाँ, वह समय तो आ रहा है। अच्छा, (चलते हुए) मैं जाकर किसी को भेजूँ ?

लीला—नहीं। मैं हाथ जोड़ती हूँ, नहीं।

कैलाश—अच्छा। प्रार्थना के बाद मैं ही आ जाऊँगा। इस बीच तुम ठीक होकर चली आओ तो मुझे पीछे मिलना। तुम्हारा यह रोग असाध्य होना चाहिए।

[कैलाश चले जाते हैं। उनके निकल जाने के बाद लीला माथे को धरती की घास पर डाल कर छाती मसोसती हुई कराहती हुई रह जाती है।]

तीसरा दृश्य

[कला का कमरा। कला बैठी कुछ सी रही है। लीला का प्रवेश।]

कला—लीला बहन, तुम ! क्यों, कैसे ?

लीला—कुछ नहीं। अब मैं अच्छी हूँ।

कला—मैं तुम्हारी तरफ ही आने की सोच रही थी। तुम्हें तो अभी चलने-फिरने से बचना चाहिए !

लीला—नहीं,अब मैं अच्छी हूँ। कल से फिर अपना काम ले लूँगी।

कला—इतना अपने को थकाओ मत, लीला ! या अपने से बदला लेना चाहती हो ?

लीला—और तुम जो इतना काम करती रहती हो ?

कला—मेरी और बात है। तुम तो सुकुमार हो। अभी नई हो। मैं अभ्यासी हो गई हूँ। मेरे मन में अब कामनाएँ नहीं हैं। तुम क्यों अपने को खोती हो ?

लीला—मैं तुम-जैसी क्यों नहीं हो सकती हूँ। तुम भी कभी सुन्दरी थीं। प्रशंसकों से घिरी रहती थीं। अब भी कौन तुम्हारी आयु ज्यादा है ? और यह कैसी शकल बना ली है ?

कला—(मुस्करा कर) भाग्य !

लीला—भाग्य नहीं। सच बताओ।

कला—और क्या बताऊँ। राग-रंग में मेरा मन नहीं था। बहुत भटकी, पर मालूम हुआ जो खोजती थी वह और है। वह क्या है ? भटक में यहाँ आ लगी तो अब जी नहीं है कि और भटकूँ।

लीला—कभी तुम्हें विलायत की ज़िन्दगी की याद नहीं आती ?

कला—मतलब, चाह नहीं होती ? हाँ, चाह नहीं होती।

लीला—किसी तरह की चाह नहीं होती ? पुत्र की चाह, पति की चाह, प्रेमी की चाह।

कला—नहीं, वैसी तो चाह नहीं होती।

लीला—फिर भी समझती हो, तुम स्त्री हो ?

कला—नहीं तो कौन हूँ ?

लीला—मैं नहीं जानती। पर तुम स्त्री नहीं हो। सच बताओ, कैलाश को तुम प्रेम नहीं करतीं ?

कला—प्रेम से अधिक करती हूँ।

लीला—फिर यह क्यों नहीं कहतीं कि तुम-जैसी हूँ ?

कला—ऐसी कैसी ?

लीला—जैसी मैं। जैसी सब ?

कला—वैसी ही तो रह रही हूँ। लीला बहन, तुम क्या चाहती हो ?

लीला—मैं चाहती हूँ कि तुम मान लो कि तुम तपस्विनी नहीं हो। चाहती हूँ कि मैं भी मान लूँ कि तुम वह नहीं हो, बिलकुल मेरी जैसी हो।

कला—मैं बिलकुल तुम्हारी ही जैसी हूँ, लीला। बल्कि तुम से अपात्र हूँ। इधर तो मुझे तुमने लज्जित कर ही दिया है। ऐसी कठोर साधना तो...

लीला—मैं जो रात को तीन बजे उठ कर जाड़े में तमाम आश्रम में झाड़ू देने लगती हूँ, इसको तुम साधना कहती हो।

[हँसती है]

कला—और क्या कहूँ। देखती हूँ, तुम्हें अपने तन की सुध नहीं है। इधर आश्रमवासियों को तुमने अपने कठोर श्रम से मोह लिया है। तुम्हारे व्यवहार की मिठास मैंने और जगह नहीं पाई। सब तुम्हारी प्रशंसा करते हैं। फिर तुम अपने से क्यों नाराज हो ?

लीला—तुम नहीं जानतीं। तुम नहीं जानतीं। साधना !

[खिलखिला कर हँसती है।]

कला—ऐसे न हँसो, लीला ! तुम्हारी तबियत अभी ठीक नहीं है।

लीला—मेरी तबियत तो ठीक हो जायगी। तबियत ढीलने से बिगड़ती है। कल से फिर सफाई का काम मेरा है और यह काम पौ फटते तक मैं निबटा लूँगी। कल से टट्टी-घर साफ करने का काम भी मुझे दे दो। थोड़े काम से मेरा जी नहीं भरता और रोग हावी होने लगता है।

कला—क्या कह रही हो ? अभी तीन रोज तुम्हें किसी तरह के काम करने की इजाजत नहीं होनी चाहिए। लीला, तन से युद्ध न ठानो। चलो, तुम्हारे कमरे में चलें। आराम करना।

लीला—आराम से मैं तंग हूँ। चार रोज से और क्या कर रही हूँ। तुम कहती हो कि रात को तीन बजे उठ कर जो बुहारी लगाने लगी, सो बड़ा काम किया है। (हँसती है।) पर रात में पहर के पहर जागते काटना उससे आसान नहीं है। तब उठकर करने को काम पा जाती हूँ, तो चैन पा जाती हूँ। नहीं तो...और तुम कहती हो, साधना !

[खूब हँसती है।]

कला—देखती हूँ, तुम्हारी तबियत खराब है। ऐसे बोलना-हँसना ठीक नहीं।

लीला—नहीं, तुम चिन्ता न करो। सब ठीक है। तबियत मेरी खराब नहीं है। यह बताओ, कला बहन, तुम कि हम जीते क्यों हैं। तुम क्यों जी रही हो ? मैं क्यों जीऊँ ? बताओ, मैं क्यों जीऊँ ?

कला—तुम्हारे उपवास का आज तीसरा रोज है, लीला ! ज्यादा बोलना कमजोरी लायेगा।

लीला—उपवास कहाँ है। सब टूट गया। कैलाश बाबू आये और

अपने हाथ से संतरे का रस पिला गये। उनके आगे किसी की हठ चलती है !

कला—चलो वह अच्छा हुआ।

लीला—तुम लोग जाने कैसी बात करती हो। खुद उपवास पर उपवास करती हो, मुझे मना करती हो। कैलाश जरा बात पर अनशन रखते हैं, मुझे एक जून खाना नहीं छोड़ने देते। देखती हूँ, तुम लोग स्वार्थी हो। मुझे बताओ, कैलाश क्या ऐसे हैं। वह तुम्हारे कौन हैं ?

कला—कैलाश बन्धन-मुक्त आत्मा हैं। मैं बस उनके प्रकाश में चल रही हूँ।

लीला—मालूम है, कहाँ चली जा रही हो ?

कला—कहाँ पहुँचूँगी, नहीं मालूम। चल ठीक रही हूँ तो पहुँचा गलत जगह नहीं जायगा। हम तो चल ही सकते हैं। पथ का अन्त तो पथिक के हाथ में नहीं है।

लीला—तुम चल सकती हो, क्योंकि पास प्रकाश है। और चलने के लिये जी सकती हो। मेरे पास प्रकाश नहीं। पर गति तो भीतर भरी है। सवाल है कि चलूँ तो किधर। अँधेरे में चला तो जाता नहीं, टकराया भर जाता है। टकराते रहने को मैं कैसे जीऊँ ? कभी जी होता है कि कहीं जाकर ऐसी टकरा पड़ूँ कि टूटकर चुक जाऊँ। कला, मुझे तुम अपने प्रकाश को दे सकती हो ?

कला—लीला बहन, तुम क्या कह रही हो। तुम्हारा चित्त कैसा है। चलूँ, कैलाश क्या कर रहे हैं। कहूँगी, तुम्हें देखें।

लीला—नहीं-नहीं। उनसे मुझे डर लगता है। वह मुझसे ऐसे बात करते हैं, जैसे मैं बच्ची हूँ। बताओ कला, क्या तुम्हें उनका डर नहीं लगता।

कला—लगता है। तभी तो चाहती हूँ, उन्हें खबर कर दूँ। उनकी

ताकीद है कि तुम्हें उद्विग्न देखूँ तो उन्हें सूचना दे दूँ। मुझे उनकी क्षमा से और भी डर लगता है। वह क्षमा से दण्ड देते हैं।

[चलना चाहती है।]

लीला—(कला को रोककर) नहीं नहीं। मत जाओ। मैं उद्विग्न नहीं हूँ। क्या मैंने अब तक सब काम ठीक नहीं किया। देखोगी अभी भी वैसे ही सब काम ठीक निभाऊँगी। तुम उन्हें मेरे बारे में यह मत कहना कि मैं हार सकती हूँ। कला, वह मेरे बारे में कभी कुछ कहते हैं ?

कला—तुम्हारी उन्हें चिन्ता रहती है। वह कहते हैं कि तुम शायद यहाँ से जल्दी चली जाओगी। क्या ऐसा तुम सोचती हो ?

लीला—मैं ? नहीं, वह मुझे कमजोर समझते हैं, इसलिए ऐसा कहते हैं। मैं क्यों जाऊँगी ? कला, तुम यहाँ सब छोड़कर रह रही हो तो मैं क्यों नहीं रह सकती। मैं रह सकती हूँ। मैं उधर अब नहीं देखूँगी। वह मुझे ठीक क्यों नहीं समझते।

कला—मैं उन्हें कहूँगी कि तुम यहाँ ही रहना चाहती हो, जाओगी नहीं।

लीला—हाँ, नहीं जाऊँगी। क्या वह चाहते हैं जिससे बच सकी हूँ उसी में फँसूँ ? मुझे जाने कब अवसर मिला है तो क्या उसको भी मैं छोड़ दूँगी ? कला, उन्होंने मेरे विषय में तुम्हें कुछ और कहा ?

कला—नहीं, कुछ नहीं कहा।

लीला—कला ! कला ! तुमने किसी से प्रेम किया है ?

कला—क्या कह रही हो, लीला !

लीला—समझ नहीं आता कि प्रेम को लेकर कोई क्या करे। मैं किसी का प्रेम नहीं चाहती। मैं नींद चाहती हूँ। प्रेम में नींद नहीं है। क्या प्रेम में सुख है ?

कला—क्या कह रही हो !

लीला—कुछ नहीं। तुम कैलाश बाबू को कुछ न कहना। मैं अब जा रही हूँ। मेरी तबियत अब ठीक है। तो भी तुम्हारे कहने से अब जाकर लेट जाऊँगी। लेकिन कल से मेरा सफाई का काम पक्का है।

कला—नहीं, यह नहीं हो सकता। अभी तुम काम के योग्य नहीं हो।

लीला—हो सकता है। मैं खुद कैलाश बाबू के पास जाकर कह देती हूँ कि मैं अब अच्छी हूँ और कल से अपना काम सँभालती हूँ। बस, तुम इसमें कुछ न बोलना।

कला—लीला !

लीला—मैं अभी ही जा रही हूँ। मुझे तुम-जैसे बनने का अधिकार क्यों नहीं है। (चल देती है।)

कला—अभी जा रही हो ? अभी तो...

लीला—हाँ, कहूँगी कि किसने कहा कि मैं ठीक नहीं हूँ।

कला—लीला !

[लीला चली जाती है।]

चौथा दृश्य

[लीला का कमरा। लीला आती है। उसके हाथ में झाड़ू है, बाल फैले हैं, चेहरे पर धूल है। झाड़ू एक ओर रख देती है और शीशा देखती है। देखकर आइना दूर कर देती है और पास एक ओर बाल्टी से पानी लेकर मुँह धोती है। धोकर फिर आइना देखती है। बाल ठीक करती है और फिर कपड़े बदलना आरम्भ करती है। इसी समय बाहर द्वार पर थपथपाहट होती है।]

लीला—कौन ?

आवाज—मैं चार्ली।

लीला—कौन ! (प्रसन्न होकर सहसा सोच में पड़ जाती है।)

ठहरो। (जल्दी-जल्दी कपड़े ठीक करती हुई दरवाजे की ओर जाती है। पास पहुँचकर फिर सोच में पड़ जाती है।) मिलने का समय यह नहीं है।

आवाज—मैं चार्ली हूँ, लिली। (उत्तर न पाकर) मुझे आने की इजाजत दो।

लीला—अभी नहीं। अभी मैं तैयार भी नहीं हुई।

चार्ली—आधे घण्टे में फिर आऊँ?

लीला—अच्छा।

चार्ली—अच्छा—

[चार्ल्स के लौट जाने की आवाज पाकर दरवाजा खोलती और लौटते हुए चार्ल्स को देखती है। चार्ल्स जाते-जाते ठहरता है, क्षण-इक असमञ्जस में रुकता है और वापिस लौट आता है। देखता है, लीला द्वार खोले खड़ी है। लीला को समय नहीं मिलता कि दरवाजा बन्द कर दे।]

चार्ल्स—(पास आकर) मैं देर न लूँगा। निबट लो, तब और बातें होंगी। लेकिन मुझे याद आया कि तुम्हारी माँ की बीमारी की खबर मुझे देनी है—

लीला—आओ, अन्दर बैठो।

चार्ली—यह समय अन्दर आकर बैठने का है?

लीला—तुम नाराज हो? मेरी माँ बीमार हैं। मैं बीमार हूँ। फिर तुम नाराज हो!

चार्ली—यह तुम को क्या हुआ है! यहाँ किस जगह आ गई हो! अपने को यह क्या बना डाला है! कभी आइना भी देखती हो? माँ का कुछ हाल-चाल रखती हो?

लीला—मैं क्या करूँ?

चार्ल्स—चलो, घर चलो।

लीला—घर चलकर क्या करूँ ?

चार्ल्स—यहाँ रहकर क्या कर रही हो ? अपना परलोक ठीक कर रही हो ? परलोक को मैं नहीं जानता। लेकिन इस लोक को बिगाड़ने से ही क्या वह बनता है, लिली ?

लीला—तो मुझे ले क्यों नहीं चलते ?

चार्ल्स—ले चलूँगा। उसी के लिए आया हूँ। लेकिन तुम्हारी तबियत को यह क्या हो गया है। ऐसी क्यों बोलती हो, जैसी तुम्हारी अपनी कोई इच्छा ही नहीं है।

लीला—यहाँ अपनी कोई इच्छा न रखने का धर्म सिखाया जाता है।

चार्ल्स—तभी तो...

लीला—चार्ली, यह गलत नहीं है। इच्छाएँ हमें सताती हैं। हम पहले चाहते हैं। फिर उस चाह में रोते हैं।

चार्ल्स—बिना इच्छा के जीना चाहती हो ? फिर जीना ही क्यों चाहती हो ? पर वह सब छोड़ो। बोलो, चलोगी ? माँ का सदमा दूर होगा। अपने पीछे माँ को तो मत भूलो। मेरी फिक्र मुझे नहीं। जिन्दगी तीन-चौथाई तो कट ही गई। बाकी बरस भी इधर-उधर बिता दूँगा। उनकी तैयारी करके आया हूँ। पीछे कुछ नहीं छोड़ा। सब नकद बना कर पास कर लिया है कि जब जैसे चाहे लुटा सकूँ। तुम अमरीका नहीं चलतीं और यहाँ हिन्दुस्तान में तपसिन बनकर रहना चाहती हो, तो वैसा कहो। तब मैं भी परिव्राजक की तरह डोलता फिरूँगा। और धन की ऐसी फुलझड़ी जलाऊँगा कि बुझने से पहले उसका प्रकाश तुम भी सराहोगी।

लीला—चार्ली, मुझे क्षमा करो। तुम क्या चाहते हो ? मैं वह नहीं हूँ जो तुम समझते हो।

चार्ल्स—मैं क्या समझता हूँ ?

लीला—विवाह चाहते हो ? मैं विवाह के योग्य नहीं हूँ। मेरा...

चार्ल्स—मुझसे इस तरह की बातें न करो।

लीला—मेरा तन मलिन है।

चार्ल्स—चुप करो। बको मत। मैं देवियों में विश्वास नहीं करता। वह बात बार-बार कह कर मेरा अपमान क्यों करती हो? मैं बड़ा पवित्र हूँ न!

लीला—हागर्थ को तुम जानते हो? विलियम को तुम जानते हो? मैं सब तुमसे कह चुकी हूँ। उन सबके प्रति अकृतज्ञ भी मैं कैसे बनूँ? चार्ली, तुम इतने समझदार, इतने नेक—मुझ व्यभिचारिणी को तुम दुतकार क्यों नहीं देते। मुझे नरक के लिए छोड़ दो। विवाह मेरे लिए नरक है और तुम-जैसों का प्रेम मेरे लिए यातना है। उस प्रेम का प्रतिदान मेरे दिए दिया जायगा? इसी से कहती हूँ, चार्ली, मुझे इस आश्रम की कठोरता से अलग न करो।

चार्ल्स—(लीला का हाथ पकड़कर) क्या तुम ईश्वर के सामने कह सकती हो कि मैं तुम्हारे लिए कुछ नहीं हूँ, कि मैं तुम्हारा ही नहीं हूँ? तब तुम मुझे स्वीकार करने से विमुख कैसे हो सकती हो? लिली, मुझे यहाँ का सब-कुछ अमानवी मालूम होता है। यहाँ एक मनुष्य है, वह कैलाश, और वह महान् है। लेकिन उसका यह आश्रम तो Sub-humans का कारखाना है। चलो, यहाँ से चलो। मैं तुम्हें ले चलूँगा। क्या तुम्हें चाहिए? जो धन दे सकता है, वह मैं दे सकता हूँ। हम दोनों सागरों पर बिहरेंगे और हवा में तिरेंगे। प्रेम का देवता हम दोनों के साथ रहेगा। जगत् के सब धन्धे दूर रहेंगे। मेरे पास बहुत काफी है। कोई अभाव पास फटकने न पायगा। चलो, लिली, चलो।

[लीला का हाथ चूमता है, जिस पर मानो वह नीली पड़ आती है। वह अपने हाथ को एक-दम खींच लेती है और भौंचक चार्ल्स को देखती रह जाती है।]

चार्ल्स—लिली! प्यारी लिली! ओ मेरी अपनी लिली!

लीला—(एकदम अलग खड़ी होकर) ओः, यह क्या करते हो ? ाश्रम है, यह आश्रम है ! यहाँ मैं प्रभु की हूँ । कैलाश बाबू मुझ पर वेश्वास करते हैं । चार्ली, तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ ।

चार्ल्स—मुझे माफ़ करो । लेकिन सच तुम्हें क्या हो गया है, लेली ?

लीला—मैं नहीं कहती मैं यहाँ से नहीं जाऊँगी । लेकिन जब तक ाहाँ हूँ, मुझ से दूर रहो । मैं तुम्हारे पैरों पढ़ती हूँ । (सहसा, स्तम्भित, ामने देखती रह जाती है ।) ओः !

चार्ल्स—क्या हुआ ?

लीला—(चित्र-लिखी-सी) उन्होंने देखा तो नहीं ?

चार्ल्स—कौन ? किसने ?

लीला—कैलाश बाबू आ रहे हैं ।

चार्ल्स—(मुड़कर देखते हुए) आने दो ।

कैलाश—(पास आकर) लो, तुम दोनों यहाँ अच्छे मिले । लीला, इनको भी हिन्दुस्तानी बनाने का इरादा है कि नहीं । चार्ली, यह तो ठेठ भारतीय बनने की ठान चुकी मालूम होती हैं । क्यों लीला ?

चार्ल्स—कोई अपने को कहाँ तक बदल सकता है ।

कैलाश—(हँसकर) यह तो लीला बतलायगी । यह भी ठीक है कि मनुष्य अपने को नहीं बदल सकता । वह आत्म-खण्ड है । लाख कोशिश पर भी कुछ और नहीं हो सकता । क्यों लिली ? चार्ली, तुम आश्रम के और भाई-बहनों से मिले ?

चार्ल्स—कुछ से मिला । मैं इस सबसे सहमत नहीं हूँ । आप यहाँ मनुष्य की शक्ति कम करते हैं ।

कैलाश—(हँसकर) संशोधन सुझाइए । मैं तो सीखना चाहता हूँ । मुझे ऐसे ही लोग चाहिएँ जो जल्दी सन्तुष्ट न हों, निर्मम आलोचक । लेकिन अभी तो—लीला, तुम्हारी दरख्वास्त नामंजूर होती है ।

(हँसकर) नया काम तुम्हें और नहीं मिलेगा। मैंने सिफ़ारिश की है कि पुराना छिन जाय। अपने से बैर ठानना क्यों ? इस बार बाहर जाऊँगा तो तुम साथ चलना चाहोगी ?

चार्ल्स—लेकिन यह तो यहाँ रहना नहीं चाहतीं।

कैलाश—यह बात है ! तब तो सब ठीक है। तुम कहो, जी।

लीला—यह खबर देते हैं कि मेरी माँ ज्यादा बीमार हैं। मेरे अकेली वहीं हैं। आप कहते हैं न कि मुझे जाना चाहिए ?

कैलाश—तुम्हारे दो भाई भी तो हैं न। क्या वे सेवा में नहीं हैं ? अगर वहाँ व्यवस्था ठीक हो तो तुम्हारा वहाँ जाना बच भी सकता है। वैसे शायद यह जगह तुम्हारे लिए ठीक नहीं है। यहाँ तुम्हीं देखो, क्या है ?

चार्ल्स—क्या मैं अनुमान करूँ कि आप इन्हें जाने से रोकना चाहते हैं ?

कैलाश—नहीं। बल्कि चाहता हूं कि यह अपने देश जावें। आश्रम-जीवन तो कोई चाहे सब जगह साथ रह सकता है। घर क्या आश्रम नहीं है ? क्यों लीला ? जाने में झिझकती हो ?

लीला—मैं फिर आ जाऊँगी। माँ के अच्छे होने पर आ जाऊँगी।

कैलाश—जब चाहे आओ। संस्कृत का वाक्य याद है न—वसुधा ही हमारा कुटुम्ब हो। तुम हम सबको कुटुम्ब जैसा मानो तब तो बात है। मान सकोगी ? क्या अमरीका, क्या हिन्दुस्तान, सब परमात्मा की गोद है।

लीला—मैं माँ को देखने के लिए जा रही हूँ।

कैलाश—जाओ जरूर। पर यह तो काफ़ी कारण नहीं है। क्यों चार्ली, तुम्हारे रहते क्या मैं इनको यकीन नहीं दिला सकता कि इनकी माँ को कोई खतरा नहीं है।

चार्ल्स—मैं अभी मुमकिन है भ्रमण पर और आगे निकल जाऊँ। अभी पूर्व की विचित्रताएँ काफ़ी देखना बाकी हैं।

कैलाश—(गम्भीर वाणी में) क्या आप याद दिलाना चाहते हैं कि वह आपकी तो माँ नहीं हैं, और इनकी हैं। लेकिन यह तो आपके लिहाज़ से कोई बड़ा अन्तर नहीं होना चाहिए।

चार्ल्स—आपका आशय...

कैलाश—लीला अभी स्वस्थ नहीं है। माँ के स्वास्थ्य-लाभ में क्या वह विशेष सहायता पहुँचा सकेगी ? ऐसे समय आप कहने आये हैं कि वहाँ माँ ज्यादा बीमार हैं। यह ठीक है। लेकिन इस सूचना से उसे कष्ट पहुँचाने के साथ क्या आप यह आश्वासन भी नहीं दे सकते कि उसे चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। मैं समझता हूँ आप लीला की अस्वस्थावस्था में उसे दण्ड नहीं देना चाहते। मेरी सलाह होगी कि आप हवाई जहाज़ से वापिस लौट जावें और वहाँ से खबर दें कि माँ ठीक हो रही हैं।

चार्ल्स—आपकी ध्वनि से मालूम होता है कि आप भूलते हैं कि मैं आश्रम-वासी नहीं हूँ।

कैलाश—मुझे क्षमा करें। लेकिन मैं अनुमान करता हूँ कि इस लड़की के स्वास्थ्य की आपको चिन्ता होनी चाहिए। उसका चित्त स्वस्थ नहीं है। अच्छा हो कि वह आपके साथ चली जावे। लेकिन माँ की चिन्ताकुलता के कारण जाना स्वास्थ्य के लिए ठीक न होगा। तब क्या यह उपाय नहीं है कि आप हवाई जहाज़ से वापिस चले जावें ताकि उन्हें दिलासा हो। क्या आप इन्हें इतना प्रेम नहीं करते ?

चार्ल्स—लेकिन मैं इन्हें यहाँ इस पागलों की बस्ती में नहीं छोड़ सकता।

कैलाश—हाँ, यह तो ठीक है। लेकिन जाना हो तो मेरी सलाह है

कि समुद्र से नहीं, हवा से जाओ। समय की बचत होगी और पैसा...

चार्ल्स—उनकी फ़िक्र नहीं है।

कैलाश—हाँ, पैसे की फ़िक्र न होनी चाहिए। लीला, यह खुशी है कि यह तय है, तुम अब जा रही हो। यहाँ के लोग एकदम तो नहीं, लेकिन हाँ थोड़े-थोड़े पागल ज़रूर होंगे। पर फिर भी तुम उनको याद रख सकती हो। अब मैं चलूँ।

लीला—तो आपकी इजाज़त है ?

कैलाश—(हँसकर) ज़रूर इजाज़त है।

लीला—(एकाएक) लेकिन क्या मैं यह तय नहीं कर सकती कि मैं न जाऊँ ?

कैलाश—उसकी भी इजाज़त है।

लीला—तो मैं नहीं जाऊँगी।

कैलाश—सोच देखो।

[कैलाश चले जाते हैं। लीला कुछ देर उन्हें जाते हुए देखती रहती है। ओझल होने पर दोनों हाथों से मुँह को ढक लेती है और सुबकने लगती है। फिर वह सिर को घुटनों पर डालकर अवश हो रहती है।]

चार्ल्स—लिली ! लिली !

[उसके कमर में हाथ डालता है।]

लीला—हट जाओ। मुझ से न बोलो। ओ, ईश्वर, मैं क्या करूँ ?

चार्ल्स—लिली, डीयर, चलो, यहाँ से चलो।

लीला—(मुँह उठाकर) मुझे क्यों मार रहे हो ? मुझे जबर्दस्ती उठाकर क्यों यहाँ से एकदम भगा नहीं ले चलते हो ? मैं यहाँ रहूँगी। मर जाऊँगी, पर अपने आप नहीं जा सकती। तुमसे इतना भी नहीं होता कि बलात्कार करो और मुझे ले जाओ। मुझसे तुम्हें इतना डर लगता है ? कहती हूँ, ले जाओ। नहीं तो मैं खो जाऊँगी।

चार्ल्स—चलोगी ?

लीला—तुमको शर्म नहीं आती कि पूछते हो, चलोगी ? मैं चलने न चलनेवाली कोई नहीं होती। जाओ, हट जाओ मेरे सामने से।

[चार्ल्स अवश भाव से बैठकर उसको दोनों कंधों से पकड़ कर थामता है]

चार्ल्स—मैं ज़रूर तुम्हें यहाँ से ले चलूँगा। लिली ! लिली !!

[लीला एकटक सामने देखती रह जाती है। मानो गूँगी हो और आँखें पथरा गई हों।]

राजीव और भाभी

राजीव को नाम से आप न जानते हों, यह कठिन है—जी हाँ, शिल्पी राजीव ही। उसके साथ, कोई बीस वर्ष हुए, एक होली के दिन क्या अघटनीय घटित हुआ, सो आज सुनाने की छुट्टी हुई है।

आज तो वह बहुत बड़ा आदमी करके जाना जाता है। बड़े आदमी से अवश्य भाव यह नहीं कि देह उसकी संक्षिप्त नहीं है। दुबला तो वह अब भी सदा की भाँति है। लेकिन अब जो सम्पन्नता उसको चारों ओर से ऊँचा उठाए है, वह न थी। नई गिरिस्ती उसकी हुई थी, और तब माँ भी थी। जैसे-तैसे अपने को और उनको पालता था।

बीस-बाईस वर्ष की अवस्था में मनुष्य की आकांक्षाएँ स्वप्निल होती हैं। उनको परवरिश मिले तो वह पनपें, नहीं तो सूखकर मुरझा जाती हैं, और यौवन बीतते-बीतते आदमी अपने को चुका हुआ अनुभव करता है। वे आकांक्षाएँ स्नेह माँगती हैं। स्नेह अनुकूल समय पर और यथानुपात मिले तो वे हरी-भरी होकर कैसे-कैसे फूल न खिला आएँ, कहा नहीं जा सकता। नहीं तो वे अपने को ही खाती-चुकाती रहती हैं। मूल जिनकी दृढ़ हों, ऐसी प्रकृतियाँ विरोध में से भी रस खींचती हैं, अवश्य; और वे मानो चुनौती-पूर्वक बढ़ती रहती हैं। पर इस शक्ति को प्रतिभा कहा जाता है; और प्रतिभा सरल नहीं है, वह तो विरल ही है।

कहना कठिन है कि राजीव में प्रतिभा की शक्ति कितनी थी। किन्तु जब उसमें अतीव भूख थी कि कोई उसे पूछे, तब वह निरा अकेला अपने को पाता था। दुनिया की निगाह बाज़ार की ओर थी, भला राजीव में क्या उसका अटका था ? बस माँ उसकी थी, जो घर का काज-धन्धा करती थी। पत्नी तब नहीं आई थी।

एक रोज़ माँ की तबीयत कुछ खराब थी। वह रोटी नहीं बना सकती थीं। सो रोटी बनाई, सब काम किया, और राजीव नौकरी खोजने के लिए निकल गया। लौटकर आ सका कहीं शाम को। हारा-थका था, और भूखा था। कि सुस्ता कर जब चूल्हे पर कुछ चढ़ाने के विचार से चौके में वह गया तो देखता है, कि वहाँ तो कई भाँति के उज्ज्वल बर्तनों में पक्का खाना रखा हुआ है !

राजीव ने पूछा, "माँ, तुमने खाना बनाया है ?"

माँ ने कहा, "नहीं तो बेटा, बहू-रानी ने भेज दिया है।"

माँ से कई बार राजीव ने बहू रानी का जिक्र सुना है। यह हवेली उनकी ही है। और भी जायदाद है। वह बड़ी दयावन्त हैं। राजीव की नौकरी लगने के बारे में अक्सर पूछती रहती हैं। हवेली का थोड़ा-सा हिस्सा राजीव और राजीव की माँ को उठा दिया है, बाकी ऊपर वह खुद रहती हैं। दो बच्चे हैं, जो उन्हें भाभी कहते हैं।

कभी-कभी मोटर में उन्हें जाते राजीव ने देखा है। इस घर में भी कभी-कभाक वह दीख गई हैं। ज़रा देह से स्थूल हैं, लेकिन हँसने वाली बड़ी हैं। मन की तो बहुत ही अच्छी हैं। और रूप की—(लेकिन, वहाँ तो वह अन्दाज़ से ही काम लेता है, क्योंकि ठीक तरह उसने कोई उन्हें देखा थोड़े ही है)—रूप की तो वह सर्वथा देवी ही हैं, ऐसा सुश्री मुख है।

राजीव ने कहा, "माँ, तुमने कह न दिया कि रज्जो आकर खुद बना लेगा। वह क्यों तकलीफ़ करती हैं ?"

माँ ने कहा, "मैं तो उनके हँसते हुए चेहरे के सामने कुछ कह ही न सकी, बेटा। और वह आधे घण्टे से भी ज्यादे मेरे पास बैठी रहीं।"

राजीव ने आश्चर्य से पूछा, "खाना वह खुद लाई थीं, क्यों माँ ?"

माँ ने कहा, "हाँ, बेटा !" और तदनन्तर सोत्साह वह बखान करने लगीं कि रानी-बहू और क्या-क्या बातें कहती-सुनती रहीं, कैसे वह साक्षात् देवी हैं, और...

लेकिन राजीव सुनने को ठहरा नहीं। वह गया और चुपचाप जाकर खाना खा लिया। खाकर तभी उसने उन ऊपर से आए हुए बर्तनों को अच्छी तरह माँजा, उन्हें पोंछा और लेकर चला। जिन्दगी में पहली बार जीना चढ़कर गया ऊपर और पुकारने लगा, "हीरा, ओ हीरा, यह बर्तन ले जा।"

हीरा नौकर का नाम था। हीरा तो नहीं आया, पर देखता क्या है कि बहू-रानी ही, मुँह पर थोड़ा-सा घूँघट डाले बर्तन लेने को आ गई हैं। वह तो जैसे सब भूल गया, और जाने कब उसके हाथ में से बर्तन ले लिये गए, और बहू-रानी चली गईं। एकाध मिनट सुध-बुध खोया-सा वह वहीं खड़ा रहा, फिर चला आया।

उसी रात को उसके मन में फूटा उसका पहला चित्र। वह चित्र फिर कन्वास पर उतरा, बिका, और उसने फिर राजीव को राजीव बना दिया।

किन्तु भाग्य ही तो है। जब वह खुले ही तो उस कोष में से क्या-क्या नहीं निकलेगा, कोई जानता है ? चार-पाँच वर्ष में उसका विवाह भी हो गया। और तब कल्पना के पीछे की अवगुण्ठनावृत रानी-बहू खुले सत्य में उसकी भी भाभी हो चलीं। तब देखा कि इस स्थूल शरीर में चुहलबाज़ दिल है। वहीं से भाग्य देव भी पलट कर बरस पड़ने लगे, और राजीव को मानो जीवन में अपना उद्दिष्ट कर्म पा गया।

अब आप जानिए, होली होली है। राजीव सौम्य प्रकृति का है,

इससे क्या उसे छोड़ दिया जाय ? भाभी ऐसी क्या पस्त-हिम्मत हैं ? हाँ-हाँ, राजीव-साहब बड़े ही बुजुर्ग, बड़े ही सज्जन हैं, लल्लो-पत्तो भी जानते हैं। लेकिन यों बचने से दुर्गति दुगुनी होगी, जान लीजिएगा। क्योंकि होली होली है और भाभी भी भाभी है।

उस वर्ष राजीव की खासी मरम्मत हुई। और तो और, उसकी नवेली पत्नी भी भाभी के षड्यन्त्र में शामिल हो गई। तब राजीव ने भी कमर्र से साहस बाँधकर बचाव में थोड़ा कुछ ऊधम किया-कराया।

उस रोज़ खुल पड़ी हुई आनन्द की बयार ने राजीव की जीवन-नौका के पालों को ऐसा भरपूर भर दिया कि वह उड़ती ही चली गई। वह तमाम संवत्सर तैर गया हो, मानो ऐसे निकल गया। इस वर्ष राजीव की परिस्थिति भी खूब सुधर आई, माँग बढ़ उठी और उसकी पहुँच ऊँचाइयों में होने लगी।

इसी तरह कई वर्ष निकलते गए।

जिस होली की बात कहने चले हैं, उसके लिए तय पा गया था कि भाभीजी बड़ी तमीज़दार हैं और बड़ी अच्छी हैं, सो राजीव को माफ़ ही रखेंगी।

तय तो पा गया था, किन्तु होली से दो रोज़ पहले बात-बात में जब अजीब गम्भीरता से भाभी ने कहा, "देखो, उन्हें अच्छा नहीं लगता। और कुनबे में एक गमी भी हो गई है। अबके कुछ दंगा मत मचाना।"

तब अनायास राजीव कह उठा, "यह बात है !"

भाभी ने कहा, "नहीं भाई, मैं हाथ जोड़ती हूँ, इस बार घर में रंग-वंग कुछ भी न होगा।"

राजीव ने कहा, "मैं तो डालूँगा।"

अति विनीत होकर भाभी ने कहा, "तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ, राजीव ! अबके गमी हो गई है। मैं नहीं तो कभी ऐसा कहती हूँ ?"

राजीव भाभी के इस अनुनीत भाव पर मन-ही-मन शंकित और

त्रस्त हो आया। उसने मानो लाचार होकर कहा, "अपनी बारी को भाभी, तुम ऐसा कहती हो !"

और भी कातर होकर भाभी ने कहा, "मैं तुम से कहती जो हूँ, देवर बाबू ! नहीं तो भाभी भला कभी कुछ कहती है ! उन्हें यह सब अच्छा नहीं लगता।"

'उन्हें' अर्थात् पति को ! पति अति शुद्ध-हृदय और खुली तबियत के आदमी हैं। राजीव से जब मिले हैं, बड़े प्रेमपूर्वक मिले हैं। पर वह काम-काजी हैं, और राजीव उनके इतने निकट नहीं हो सका है। और......

राजीव ने मानो बड़े साहसपूर्वक कहा, "अच्छा होली आने दो, तब देखेंगे।"

राजीव परिस्थिति को बिल्कुल समझता ही नहीं, सो नहीं। इससे होली से ठीक पहले दिन अपने एक मित्र के अनुरोध पर राजीव ने मित्र से कह दिया, "अच्छी बात है, मोटर ठीक सवा नौ बजे मुझे घर से ले ले। मैं तैयार मिलूँगा। प्रोग्राम साढ़े-नौ का है न ?"

राजीव अपने मन में जानता है कि उसे होली का हुड़दङ्ग पसन्द नहीं है। उस रोज़ की भाभी की आर्त्त-सी बनी वाणी पर रह-रहकर उसकी स्मृति जाती है। उसे लगता है, वह कुछ समझता भी है। फिर भी हठात् उसके मन में शंका रहे ही आती है कि कहीं होली के दिन के लिए भाभी के भीतर कोई शरारत तो नहीं दुबकी है। उसने सोचा है, जो भी हो, सवा-नौ तक अपने कमरे से बाहर वह पैर भी नहीं रखेगा, और फिर मोटर आई कि चल ही देगा। होली बीत चुकेगी, तब शाम को कहीं लौटेगा। सब बिल्कुल ठीक है।

किन्तु जब सिर पर दुर्दैव ही खेल आवे तो—? और विरञ्चि बाबा के मन का हाल भला कौन जान सकता है ? जब राजीव ने मोटर की बात अपने मन में पक्की कर ली, तब सब प्रपंचों के रचयिता वह बाबा

विरञ्चि ऊपर बैठे-बैठे मुस्कराए होंगे। कहते होंगे—'देखो लड़के की बात ! अरे, हम फिर कुछ ठहरे ही नहीं ! जो ये दुनिया के छोकरे हमें बिना बूझे सब करने लगेंगे, तो हो लिया काम।' और उन्होंने उस समय कौतुकपूर्वक ओठों-ही-ओठों में कहा होगा—'अच्छी बात है, चिरंजीव राजीव ! तो लो, क्रीड़ा देखो।'

मोटर सवा-नौ पर आती, राजीव क्या देखता है कि उससे पहले ही चले आ रहे हैं—डाक्टर सीताशरण। गुलाल से मुँह रँगा है, और कपड़े तरबतर हैं।

राजीव ने कहा, "क्या हाल है डाक्टर साहब ?"

डाक्टर ने बताया कि ये बालक बड़ी बला होते हैं। देखते तो हो कि क्या गति बना दी है। घर से अच्छा भला चला था, यहाँ आते तक खासा लंगूर हो गया हूँ।

उसके बाद डाक्टर ने पूछा कि यह क्या है ? राजीव घर में बन्द क्यों है ? क्या अकेला है ? श्रीमती कहाँ हैं ? छोड़ गईं ?—चलो छुट्टी हुई।

राजीव ने कहा कि नहीं, ऐसी शोचनीय परिस्थिति नहीं है। फिर भी मायके गई हैं। तभी तो वह जरा चैन से दिखाई देता है।

उस समय जेब में से डाक्टर ने चुपके-से रंगीन पानी से भरी एक शीशी खींची।

राजीव ने किन्तु देख लिया, कहा, "हें—हें डाक्टर ! मुझे पार्टी में जाना है।"

'डरो मत,' डाक्टर ने कहा, "यह जादू का रंग है" और राजीव के बहुतेरा कहते-कहते और भागते-बचते डाक्टर ने उसके उजले कपड़ों पर रंग छिड़क ही दिया और मुँह पर जरा गुलाल भी मल दिया।

"घबराओ नहीं राजीव, देखो रंग अभी ग़ायब हो जायगा।" और सचमुच पानी सूखते-सूखते कपड़े पर जरा भी रंग का धब्बा नहीं रहा।

राजीव अप्रत्याशित भाव से कह उठा, "यह तो बहुत ठीक बात है। डाक्टर ऐसा और रंग तुम्हारे पास है ?"

डाक्टर ने कहा, "जितना चाहो" और जेब में से आठ-दस पुड़ियों का बण्डल-सा निकाल कर सामने रख दिया।

"आधा-पाव गुनगुने पानी में एक पुड़िया डाल दो, बस, रंग तैयार। कई रंग की पुड़िया हैं।"

अनायास राजीव ने पाँच-सात पुड़ियाँ उठा लीं, और उतनी ही शीशियाँ निकाल कर, उसने जादू का रंग तैयार कर लिया। और त्वरा-ग्रस्त हो उसने कहा, "देखना डाक्टर, क्या बजा है ?"

"साढ़े-नौ होने वाले हैं, पाँच-सात मिनट हैं। अच्छा, मैं चलूँ।" और डाक्टर चले गए।

तब मुँह का गुलाल, धोकर साफ किया, शीशा देखा, बाल ज़रा ठीक किए और शीशियाँ होशियारी से जेब में सँभाली। और राजीव लपक कर चला ऊपर। चुप ही चाप पहुँचा। देखा, भाभी बेफ़िकरी के साथ अन्दर के कमरे में पान बना रही हैं, और एक ट्रंक खुला पड़ा है। अचक, पैर रखता-रखता भाभी के पीछे वह पहुँचा और पहुँचते-पहुँचते तीन-चार शीशियों के मुँह खोल कर एक साथ कई रंग भाभी की साड़ी पर छिड़क दिए।

भाभी एक साथ चौंक कर मुड़ीं, देखा, राजीव ! वह पहले तो शायद मुस्कराने को हुईं। राजीव को ऐसा भी लगा कि कहीं होशियारी से झपट कर उसके हाथ से शीशी ही उड़ा लेने वाली तो यह नहीं हो रही हैं ! किन्तु तत्क्षण फीकी और चिन्तित पड़ कर उन्होंने कहा, "नहीं जी, यह हमें अच्छा नहीं लगता।"

राजीव सामने हँसता हुआ खड़ा रहा। उसका मनसूबा था कि गुलाल की भी एक रेख भाभी के माथे पर लगायगा, पर कहने को वह हँसता रहा, लेकिन मन उसका जैसे एक साथ बँधकर खड़ा हो गया था।

भीतर-भीतर जैसे उसे परिताप हो रहा था, भाभी के मुख पर ऐसी कुछ व्यथा की छाया थी।

"नहीं-नहीं" भाभी ने कहा, "हमें यह बिल्कुल अच्छा नहीं लगता है। तुम जाओ।"

राजीव ने कहा, "भाभी, यह जादू का रंग है। अभी उड़ जायगा।"

भाभी ने कहा, "नहीं, तुम जाओ।"

अपनी स्वच्छ कमीज़ का पल्ला आगे पकड़कर राजीव ने कहा, "यह देखो" और उस पल्ले पर थोड़ा-सा रंग छिड़क लिया। "देखो, तुम्हारे सामने-सामने यह उड़ जाता है या नहीं।"

सचमुच, रंग तो नाम के धब्बे तक को वहाँ न रहा। राजीव आश्वस्त भाव से हँसा।

भाभी ने कहा, "नहीं, नहीं, तुम जाओ।"

राजीव बोला, "भाभी!"

भाभी ने अनुनीत होकर कहा, "हमारे यहाँ गमी हो गई है। नहीं-नहीं, तुम जाओ।"

राजीव जिस उत्साह को लेकर यहाँ आया था वह तो अब उसे बिल्कुल छोड़ ही चला। उसने कहा, "भाभी, इस रंग से कपड़े बिल्कुल खराब नहीं होंगे।"

भाभी ने चुपचाप मुँह फेरकर पान लगाना शुरू कर दिया। फिर मुड़कर पान की तह कर उसे देते हुए कहा, "यह पान लो राजीव, और तुम जाओ, देखो।"

भाभी की वाणी में कुछ वह बात थी, जिसका राजीव तो उल्लंघन जीते जी कभी कर ही न सकता था। उसने कहा, "जाऊँ?"

"हाँ, जाओ।"

"तो, लो, यह शीशियाँ। मैं इनका क्या करूँगा?"—राजीव ने खिन्न भाव से हाथ फैलाकर उन्हें आगे किया।

बिना कुछ कहे शून्य-भाव से भाभी ने भी हाथ बढ़ाकर उन्हें ले लिया।

राजीव तब मौन खड़ा रह गया। भाभी भी कुछ नहीं बोलीं। उसी समय ज़ोर-ज़ोर से बजते हुए मोटर के हौर्न की आवाज़ आई। राजीव ने कहा, "अच्छा भाभी" और झटपट झुककर खड़ी हुई भाभी के चरन छूकर वह जल्दी-जल्दी लौट आया। आकर बैठक का दरवाज़ा खोल, बाहर बरामदे में जो गया कि देखता है, मोटर में स्वयं ला० शिवशंकर-लाल बैठे हैं।

शिवशंकर ने देखते ही कहा, "क्या बना रहे हो, राजीव! चलो न।"

राजीव ने कहा, "बस, आ ही रहा हूँ। दो मिनिट।" और अन्दर जाकर झपटकर बाँहों में कोट डाला, पतलून चढ़ाई, टाई को खुला ही लटकने दिया, हैट रखा, छड़ी थामी, बैठक के किवाड़ दिए, मोजे और उस पर बूट पहना और सहन से होकर मकान की ड्योढ़ी की ओर लपका।

सहन पार कर रहा ही था, एक साथ बाल्टी-भर गरम रंगीन पानी ऊपर से ऐन उसके सिर पर आकर पड़ा, ऐन सिर पर! उसकी चोट से हैट नीचे आ रहा, कपाल भीग गया और कपड़े सब खराब हो गए!

किन्तु उस समय राजीव का जी फूल-सा खिल आया। जैसे वह इस भाँति नहाकर धन्य हो उठा। उसने बिगड़कर धमकी के स्वर में कहा, "यह कौन है? दीखता नहीं है कि कोई भला आदमी कहाँ जा रहा है!"

इसके उत्तर में बड़ी ज़ोर से खिलखिलाने की ध्वनि राजीव के कानों में पड़ी।

"हाँ—आँ?" और ज़ोर से बूटों को सहन के फ़र्श पर पटकता हुआ वह उसी मुँह अपने कमरे में लौटकर आया, धोती पहनी, पैरों में चप्पल डाली, और बैठक के किवाड़ खोल सामने बरामदे में आया।

वहाँ उसे देखते ही मोटर में से शिवशंकर ने कहा, "अजब आदमी हो। अब तक चल ही रहे हो ! ऐसे चलोगे ?"

राजीव ने बरामदे के नीचे सड़क पर आकर कहा, "अब नहीं चल सकूँगा।"

"क्यों ?"

"यह औरत-जात बड़ी खराब है जी। मैं तो अभी बाज़ार से पक्का रंग लेकर आता हूँ !...हाँ, चलो तुम्हारी मोटर में चलूँ।"

शिवशंकर ने कहा, "क्यों, तो साथ नहीं चलोगे ?"

"साथ चलूँगा ? देखते तो हो, यह सिर का हाल। बाज़ार से रंग लाकर इस सिर की अब मरहम-पट्टी करनी होगी।"

बाज़ार आने पर राजीव वास्तव में ही मोटर से उतर गया। माने न माना। इतने में ही उसे सामने से आते दिखाई दिए, भाई-साहब, यानी जिनको भाभी के नाते राजीव जानता था। हँसते हुए आ रहे थे कपड़े उनके भी रंग-बिरंगे हो रहे थे, हाथ में रूमाल में फल लटके थे, एक ओर से सेंध बनाकर दो चोइल ककड़ियाँ निकल रही थीं और भीतर से लौकाट उझक रहे थे।

पूछ उठे, "कहिए, कहाँ ?"

राजीव ने कहा, "कुछ नहीं, यों ही।"

"मोटर में ये कौन थे ?"

राजीव ने कहा, "लाला शिवशंकरलाल थे।"

"अच्छा ?"

और 'अच्छा' कहकर भाई-साहब आगे बढ़ गए।

राजीव का उत्साह हठात् कुछ मन्द हुआ। फिर भी जैसे एक मद सवार था। दुकान से कई तरह के रंग लिए, घर आकर उन्हें घोला और लोटा भरकर पहुँचा वहीं ऊपर।

भाभी का छोटा बालक, जिसका नाम पड़ा था—छोटे, और जो बड़ा

खोटा था, छज्जे पर खड़ा था। राजीव को चढ़ते देख, वहीं से बोला, "भाभी, ओ भाभी, चाचा आ रहे हैं!"

और, पर्याप्त-काया भाभी, यह सुनते ही, सब काम छोड़ फुर्ती से भाग छूटीं। भागकर भीतर के कमरे में भाग गईं। जल्दी में किन्तु उसके पट ठीक तरह से उनसे बन्द नहीं हुए और वह हाथ के जोर से उन्हें बन्द किए हुए उनके पीछे डटी खड़ी हो गईं!

राजीव ऊपर आया तब उसी खोटे छोटे ने इशारे से बताया कि भाभी हाँ, उस पीछे वाले कमरे में हैं। उधर को बढ़ता ही था कि जोर की डपट की आवाज आई, "क्या है?"

आवाज कम काफ़ी न थी, उस पर स्वयं भाई-साहब भी सामने आए। अजब डाँट उनकी मुद्रा में थी। बोले, "क्या है?"

राजीव ने कोठरी की ओर बढ़ते हुए ही कहा कि कुछ नहीं।

"कुछ है भी?"—और भी ज़ोर से भाई-साहब ने कहा।

"रंग का लोटा है।" राजीव ने धीमे से कहा। कहकर भाई-साहब के देखते-देखते वह कोठरी की ओर बढ़ा और लोटे को बाएँ हाथ में लेकर दाएँ हाथ से उसने किवाड़ों में जा धक्का दिया!

भाभी ने पूरा ज़ोर लगाकर किवाड़ बन्द रखे। भाई-साहब ने चिल्लाकर कहा, "राजीव!"

राजीव ने कहा, "रंग तो हम डालेंगे।" और किवाड़ में दूसरा धक्का दिया।

कमरे के पीछे से छज्जे-छज्जे एक दूसरे मकान में जाया जा सकता है। वहाँ एक सद्-गृहस्थ रहते हैं। आर्यसमाज के वह एक उत्साही सदस्य हैं और रेलवे के हिसाब-दफ्तर में काम करते हैं। चित्रकला के प्रशंसक और पारखी हैं। राजीव के एकाध चित्रों में भी उन्होंने ड्राइंग का ठीक होना स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में राजीव, हाँ, होनहार हो भी सकता है। उन सज्जन की अवस्था तीस-बत्तीस होगी। पर बुजुर्गी

उन पर कच्ची नहीं बैठती । वह चश्मा लगाते हैं, और पाँच उनके लड़के हैं । भाई साहब के हितैषी हैं । यह सज्जन ज्यों-ज्यों सोसायटी में राजीव की कला की बड़ाई सुन लेते, त्यों-त्यों उसके प्रशंसक होना स्वीकार करते हैं । किन्तु राजीव के रंग-ढंग कुछ उन्हें अच्छे नहीं लगते । उसके स्वभाव के साथ जो एक प्रकार का खुलापन है, उससे इन सज्जन के चित्त में आपत्ति बनी रहती है कि राजीव को प्रौढ़ होने की आवश्यकता है, वह जिम्मेदार आदमी नहीं है ।

जब भाभी ने पाया कि किवाड़ 'अब खुले और अब खुले !' तब सहसा उन्हें छोड़कर पीछे की ओर वह भाग खड़ी हुईं । बस, छज्जे पर से दूसरे घर में चली जाएँगी । तब ताका करें राजीव बाबू; हाँ, तो आए हैं बड़े...

किन्तु छज्जे का इकपटा खोला ही था कि सामने पड़े वही शुद्ध आर्य सद्-गृहस्थ सज्जन ! वह कुर्सी पर इधर ही देखते हुए बैठे हैं, हाथ में किताब है । भाभी ने एक-दम लम्बा घूँघट खींच लिया । वह ठिठकी और काठमारी-सी रह गईं । छि-छिः, वह वहाँ गड़ ही क्यों न जा सकी ।

सज्जन ने सावधानतापूर्वक एवं मिठास के साथ कहा, "ओह, सेठानी जी हैं !"

तभी पीछे से राजीव की आवाज़ भाभी के कानों में पड़ी, "अब कहाँ जाओगी, भाभी !"

राजीव बढ़ता हुआ पास ही आ गया । भाभी को सब सूझना बन्द हो गया । वह मानो काँपने लगीं ।

राजीव विजय-गर्व में बोला, "अब कहो ।"

हाय-हाय, अब क्या होगा ! राजीव जीतेगा ? जीतेगा ? मुझसे जीतेगा ? अच्छा !...भाभी को आव दीखा न ताव, वह सामने की ओर भाग खड़ी हुई । कुर्सी पर बैठे बाबू से छूती हुईं, उनकी रसोई में से

भागतीं, दालान पार करतीं, फैले सामान को फाँद, उस घर के छज्जे में से हो, जीने चढ़, हाँफतीं और फलाँगतीं, वह, जा पहुँची उस घर की छत पर। पहुँचकर झट अपने पीछे पट बन्द कर दिए और उन पर कुण्डी चढ़ा दी। फिर उस निर्जन तपती छत पर, अकेली, कड़ी घाम में, पत्थर पर साँस लेती हुई बैठ गईं। उन्हें चैन पड़ा कि अब छकाया राजीव को।

किन्तु इस चैन के पग-भर पीछे से उनके चित्त में आ बैठा उनकी स्थिति की विषमता का बोध, जो उनको समूचा ही मानो निगल जाने लगा। तब वह बड़ी ग्लानि और बड़ा त्रास भी अनुभव करने लगीं।

भाभी भागीं तो हाथ में लोटा लिए पीछे-पीछे चला राजीव ! सामने पड़े वही बाबूजी। उन्होंने सात्विक झिड़की के साथ टोका, "यह क्या है, राजीव ?"

राजीव बिना उस ओर ध्यान दिए आगे बढ़ा। बढ़ा, कि तभी ठिठक कर भी रह गया। आगे तो एक अपरिचित्त महिला (बाबूजी की धर्मपत्नी) अपने चौके में हैं ! उसके पैर जैसे बँधे रह गए।

उस घर में और कई वयःप्राप्त लड़के-लड़कियाँ थीं। सबको इस नए ऊधम पर बड़ा कौतुक लग रहा था। कभी वे उन भाभी को देखते, जिनके लिए उनके मन में बड़ा सम्भ्रम था। वे तो आसपास सब लोगों के मनों में सेठानीजी के रूप में ही अंकित थीं, सम्भ्रान्त और आदरणीय। सब की निगाहों में वह तो अतिविशिष्ट ही थीं। तब फिर यह क्या है ? और कभी वे इस राजीव को देखते, इस निगाह से कि कुतूहल तो उन्हें है, पर जैसे वे जानना चाहते हैं कि यह है कौन आदमी !

बाबूजी ने कहा, "It is not decent, Sir."

राजीव का मन भीतर-ही-भीतर उसे काट-काटकर कहने लगा, "It is abominable, Sir। इससे भी तीखे विशेषण उसे अपने

लिए उपयुक्त मालूम होने लगे। किन्तु वह हाथ में रंग का लोटा लिये खड़ा ही रह गया, उत्तर में कुछ भी न कह सका।

किन्तु लड़कियाँ! माना, वे बला हैं; किन्तु दुनिया में क्या उनसे हारना होगा? भाभी के आस-पास से (क्योंकि भाभी की ध्वनि भी उनमें उसे चीन्ह पड़ती थी) अपने पराजय पर खिलखिल हँसी जाती हुई सुनी, उन कलकंठिनियों की व्यंग की हँसी, मानो कि ललकार हो। उसने उसे डंक मार कर चेता दिया। अबला की ओर से सबल को चुनौती?—तो अच्छा!...

राजीव भी तब उसी भाँति चौके को, दालान को, और छज्जे को लाँघता हुआ कुछ ही छलाँगों में जा चढ़ा ज़ीने पर! ज़ीने के छोर पर पाया मार्ग अवरुद्ध और द्वार बन्द। उसने झटक कर द्वार खोला। किन्तु वे तो विरोध में कुछ स्वर करके भिड़े ही रह गए। इस पर उसके कानों पर बजी धारदार फिर भी संगीत-सी कोमल कई कण्ठों की कल-कल हँसी की ध्वनि!

उसने कहा, "अच्छा भाभी, कभी तो उतरोगी।"

कहकर थोड़ी देर वहीं खड़ा रहा। फिर नीचे उतर आकर छज्जे पर आ खड़ा हो गया।

दो- क मिनट प्रतीक्षा में खड़े रहने पर उसने सुना, ऊपर लोहे के जाल पर झुकी भाभी कह रही है, "रंग डालोगे?"

"हाँ, डालूँगा।"

"तो मैं नहीं उतरूँगी।"

"मत उतरो।"

थोड़ी देर में भाभी ने कहा, "कब तक खड़े रहोगे?"

राजीव ने कहा, "और तुम कब तक वहाँ रहोगी?"

भाभी ने कहा, "अच्छी बात है!"

राजीव ने भी कहा, "अच्छी बात है!"

इधर यह था, उधर बाबूजी ने भाई-साहब से कहा, "आपने बहुत ढील दे रखी है, लालाजी !"

वास्तव में भाई-साहब में भाभीजी के प्रति अतीव प्रेम है। वह प्रेम आदर तक पहुँच गया है। घर की ओर से जो भाई-साहब सदा सर्वथा निश्शंक रहे हैं, यह सब भाभीजी के भरोसे ही तो। किन्तु वही उनकी पत्नी आदरास्पद से कुछ और हों, यहाँ तक कि लोगों के कौतुक और कुतूहल की विषय हों, यह एकदम उनके चित्त को दुर्विसह्य जान पड़ता है। और यह व्यक्ति, राजीव ! ओह, इस स्थल पर तो उन्हें अपना—पति का—एवं पति नामक संस्था का अति दुस्सह असम्मान ही होता हुआ जान पड़ता है। प्रभुता के प्रति ऐसा अपराध ! स्त्री की ओर से ऐसी अवज्ञा, ऐसी अवगणना ! छिः-छिः !

भाई-साहब ने जोर से पूछा, "वह कहाँ है ?"

बाबू ने पूछा, "कौन ?"

'कौन ?' एक ही प्रश्न में उसकी पत्नी के साथ कोई दूसरा भी आ सकता है, जिसे प्रश्न करके अलग छाँटना होगा—'कौन ?' इस बात पर भाई-साहब को अतिरोष हुआ। उन्होंने ज़ोर से कहा, "कौन क्या होता है, बाबू ?"

बाबू इस प्रश्न पर असमञ्जस में रह गए, और भाई-साहब धड़धड़ाते हुए आगे बढ़ गए। छज्जे पर पहुँचकर राजीव को देखकर दृढ़ स्वर में उन्होंने पूछा, "वह कहाँ है ?"

"ऊपर हैं।"

सब सन्नाटा था। मानो जो होनहार है, उसकी अब प्रतीक्षा ही करते बनेगी, और कुछ न हो सकेगा। और भाई-साहब ही वहाँ युगयुगानुमोदित पतित्व के स्वत्व-रक्षक की भाँति खड़े थे।

भाई-साहब ने ऊपर की ओर डपट के साथ कहा, "चलो, नीचे चलो।"

सब सुन्न।

"सुनती हो ? चलो, नीचे आओ।"

एकदम सुन्न।

"सुना नहीं जाता है, कि मुझे और चिल्लाना होगा।"

थोड़ी देर में डरती-डरती आवाज़ में एक लड़की ने कहा, "यों कहती हैं कि उन्हें हटा दो।"

भाई-साहब ने उद्धत रोष को संयत करते हुए कहा, "राजीव, तुम नहीं जाओगे ?"

आ-पड़ी इस विषम परिस्थिति के नीचे राजीव भयभीत हो उठा था। फिर भी मानो उसकी आत्मा आतंक अस्वीकार करना चाहती थी। उसने कहा, "मुझ पर रँग डाला गया था, भाई-साहब। और मैं भरा लोटा नहीं ले जाऊँगा।"

भाई-साहब ने भयंकर स्थिर वाणी में कहा, "अच्छा, चलो। वह आती है।"

राजीव चला गया, तब भाई-साहब ने उसी अकम्प स्वर में कहा, "अब चलो, उतरो।"

उसी लड़की ने ऊपर से कहा, "कहती हैं, आप चलें। मैं आ रही हूँ।"

ज़ोर से पैर पटक कर भाई-साहब ने कहा, "फौरन् आए। सुना ?" और वह उसी भाँति धमकते हुए पैरों से लौट आए।

भाभी एक ही धोती पहने थीं। शरीर के चारों ओर उसे ठीक किया, और ज़ीने के द्वार खोल, वह धीरे-धीरे, डग-डग, चलती चली आईं। किसी के मुँह से एक भी शब्द न निकला।

छज्जा पार किया, कोठा पार किया, उससे आगे के दालान से निकलती हुईं, सहन के ऊपर के छज्जे पर से रसोई-घर में चली जावेंगी। दालान के कालीनों पर से भाभी जा रही थीं कि उन्होंने देखा,

छज्जे के कोने में लोटा लिए राजीव खड़ा है, और उससे अगले वाले कमरे में ही कुर्सी पर उनकी (भाभी की) ओर से मुँह फेरे मूर्तिमान संकल्प बने भाई-साहब स्थिर भाव से बैठे हैं।

भाभी ने कालीन पर खड़े-खड़े हाथ जोड़कर इशारे-इशारे में कहा, "राजीव, जाओ। देखो, चले जाओ।"

किन्तु, हाय-हाय भाग्य, अब भी तो राजीव ने भाभी के उन ओठों पर स्मित की क्वचित् रेख पाई। अरे, अब भी तो व्यंग सर्वथा वहाँ से अनुपस्थित नहीं है। वह रेख अब भी तो बाँकी ही है। हाय, अब भी तो मानों वह चुनौती चुप होकर बैठी नहीं है; बुला ही रही है, बुला ही रही है।

राजीव ने कहा, "देखो, मैं ग़लीचा खराब करना नहीं चाहता। आगे आओ।"

भाभी ने अति संकटापन्न मुद्रा के साथ गुनगुनाकर कहा, "नहीं-नहीं, राजीव, हम पर रहम करो।"

रहम? उन ओठों की संधियों में अरे, है भी कहीं रहम की दरख्वास्त? क्या उसमें नहीं है कि मैं अपराजिता हूँ? कि पुरुष के निकट स्त्री कभी भी पराजित नहीं है। अपराजिता ही मैं हूँ।

राजीव ने कहा, "भाभी!"

उसी समय भाई-साहब ने इस ओर देखकर जाने कैसी वाणी में कहा, "क्या है?"

स्वर होते हैं, जिनकी कोई श्रेणी नहीं होती। जिनमें एक ही साथ जाने क्या-क्या कुछ नहीं होता। जिनमें क्रोध होता है अपार, किन्तु जो सर्वथा शान्त और निष्कंप भी होते हैं। वज्र-दृढ़, किन्तु ह्रस्व घोष। उनमें एक ही साथ मन की वेदना होती है और रोष भी। उन्हें सुनकर आदमी को हिलना ही होता है।

गूँज उठी, "क्या है?"

और राजीव ने देखा, भाभी का मुँह फ़क्, पीला, पके पत्ते-सा हो गया है।

पर अब भी क्या वहाँ अबलता की चुनौती लिखी ही नहीं है ? क्या वह तनिक भी मिटी है ? उस भयभीत मुख पर तो अब मानो पौरुष के हाथों दब कर और भी दुर्दमनीय, परास्त होकर और भी अविजेय, स्त्री होने के कारण और भी हठीली होने का संकल्प अक्षरों की भाँति स्पष्ट होकर लिख आया है। ओठों के कोनों के चारों ओर वही तो है, अरे वही है !

राजीव ने कहा, "मेरा लोटा तो अभी भरा-का-भरा ही है।"

"तू रंग डालेगा ?"

"डालना तो चाहता हूँ।"

"अच्छा।"

कहने के साथ भाई-साहब उठे। स्थिर डग के साथ चलते हुए आए। तनिक-तनिक घूँघट की कोर माथे के आगे है, और भाभी खड़ी हैं। भाई-साहब ने आकर उनके दोनों हाथ पकड़े। कहा, "चल री चल, रंग डलवा।"

भाभी वहीं-की-वहीं बैठ गईं, उनकी बाँहें भाई-साहब के हाथों में थमी मुरड़ती चली गईं।

दोनों बाँहों से ज़ोर से भाभी को खचेड़ते हुए भाई-साहब ने कहा, "रंग डलवा। वह खड़ा है।"

भाभी वहीं की हो रही; सरकी भी नहीं। ज़ोर से उनकी कमर में लात मारकर भाई-साहब ने कहा, "अब डलवाती क्यों नहीं रंग ?"

राजीव लोटा हाथ में लिए सुन्न-का-सुन्न रह गया।

भाभी चुप। न आँख में उनके आँसू निकले,न मुँह से कुछ निवेदन।

ज़ोर से हाथों को झटक कर और दो-तीन लातें एक साथ जमा कर उन्हें खचेड़ते हुए ही भाई-साहब ने कहा, "अरी देख तो, कैसा रंग है ? चल डलवा, रंडी !"

राजीव की आँखों ने देखा—तो-तीन-चार, एक साथ दोनों हाथों की कई कांच की चूड़ियाँ चट-चट टूट गई हैं, और उनके टुकड़ों ने चुभकर भाभी की कलाइयों में जगह-जगह लाल-लाल लोहू के सोतों को छेद दिया है। अब भाभी की एक बाँह भाई-साहब के हाथ में है, दूसरी कालीन पर टिकी है। उस बाँह की कलाई पर फस्द के पास के एक बिन्दु पर राजीव की दृष्टि जकड़ गई है। यह रक्तबिन्दु वहाँ उत्साह के साथ मानो क्षण-क्षण फूलता आ रहा है।

"अरी बढ़ती नहीं है ? कालीन पर वह रंग नहीं डालेगा, और वह रंग लिये खड़ा है।" अनन्तर लात और लात और...

राजीव ने सहसा जोर से लोटा फेंक दिया। आगे बढ़कर कहा, "भाई-साहब ! क्या करते हैं ?"

कब्र के-से ठंडे स्वर में भाई-साहब ने कहा, "तू रंग डालेगा न। ले डाल।"

राजीव ने आर्तभाव से पुकारा, "भाई-साहब !"

'अरे जा, तू जा।'

राजीव चुप।

भाई-साहब ने एक साथ चीख़ कर कहा, "जा, जा। नहीं तो मैं जानवर हो सकता हूँ।"

भाई-साहब ने यह कहा और वह मानो ठिठके रह गए। उसके बाद फिर एक साथ भाभी का हाथ छोड़, लौट कर तेजी से कमरे में चले गए और अपने ऊपर दर्वाजा बन्द कर लिया।

राजीव ने देखा, भाभी फ़र्श को टकटकी बाँध देख रही हैं। आँखों से न आंसू निकला है, न मुँह से निवेदन। हाँ, कलाइयों में से जगह-जगह से फटकर लहू ही खुलकर निकला है। हाथ वैसे ही कालीन पर टिका है, सिर उघड़ गया है, और भाभी बैठी हैं कि बैठी ही हैं। अरे, बैठी ही हैं।

राजीव मुग्ध-सा देखता रहा। फिर एक साथ भाग आया।

* * *

यह बीस वर्ष बीते की बात है। मुझे राजीव कल मिला था। कहता था, उस दिन के बाद कल दोपहर ही उसे वह भाभी मिली थीं। सराय-बाज़ार में जो राजीव की जायदाद में दस-दस रुपये वाले क्वार्टर हैं, उन्हीं में एक अपने लिए लेने के सिलसिले में वह उसके पास आई थीं। वह अब बुढ़िया हैं। राजीव को विश्वास है, भाभी ने उसे पहचान लिया है। किन्तु किसी पहचान का जिक्र उन दोनों के बीच में न हुआ, और राजीव ने अन्त में कहा कि क्वार्टर नहीं दिया जा सकेगा। उन भाभी के सम्बन्ध में अपने को जायदाद-वाला पाए, समझे, क्या यह दंभ राजीव से झेले झिलता ? इससे कहीं अधिक सह्य तो उसे निष्ठुरता ही हो सकी, इससे निस्संकोच उसने कहा कि क्वार्टर कोई खाली नहीं है।

कल ही मुझे राजीव ने छुट्टी दी है कि उसकी कहानी के साथ मैं इच्छापूर्वक व्यवहार कर सकता हूँ। सो यह पेश है।

सोद्देश्य

"मुसोलिनी गिरफ्तार हो गया, मैं कहता न था !" ब्रजकिशोर ने कुमारी वीणा से कहा।

वीणा कविता लिखती है और ब्रजकिशोर वक्तृता देता है।

वीणा बोली, "तो फिर ?"

"तुम कहती न थीं कि हिटलर-मुसोलिनी, स्वयं में जो हों, भविष्य की दिशा में रक्खे गए दो कदम हैं। बोलो, अब क्या कहती हो ?"

"रूस, ब्रिटेन और अमरीका के हाथ राजनीति का धर्म-काँटा है, यह मैं नहीं मानती। नहीं, यह मैं नहीं मान सकती। फिर साथी राष्ट्र एक हैं, तो युद्ध को लेकर। भीतर से वे एक नहीं हैं। इससे राजनीति के राज में और नीति में किसको किसका गुरु माना जाय ?"

साथी ब्रजकिशोर ने कहा, "फासिज्म का अन्त निकट है। तैयार रहिए, कब खबर आ जाय कि हिटलर भी पकड़ा गया। हारने से पहले अपने भीतर की फूट से ही वे टूट रहे हैं। यह तो होना ही था। मानवता के शरीर पर का यह फोड़ा कब तक न फूटता !"

वीणा हँसी। बोली, "आज मुसोलिनी ने मुझे बचा लिया, नहीं तो मेरी मुसीबत थी कि नई कविता दिखाऊँ !"

"हाँ," ब्रजकिशोर ने कहा, "वह तो दिखानी ही होगी। कम आप

को तोड़ना नहीं है। कान्ति को देखिए कि दूसरा संग्रह निकलने वाला है। वह क्या तुम से ज्यादा जानती है ? कल की तो बात है कि मुझसे सीखती थी।"

वीणा को अपने कवि होने के सम्बन्ध में कोई अन्तरध्वनि नहीं मिली। फिर भी इच्छा थी कि पत्र-पत्रिकाओं में कुछ छपे, जिसके ऊपर उसका नाम हो। जान-पहचान की कई और लिखती हैं। देखा-देखी कुछ लिखा तो साथी ब्रजकिशोर ने बताया कि वह प्रतिभाशाली है। इस प्रतिभा के कारण इधर पन्द्रह-बीस दिन से हर रोज उसे एक-एक कविता लिखनी पड़ती है और साथी किशोर को उसे सिखाना और छपाना पड़ता है।

साथी शब्द, हृदय की दृष्टि से—यों किशोर एम० ए० के आखिरी साल में, और वीणा बी० ए० की परीक्षा देगी। पर श्रेणी का ही साथ सब-कुछ नहीं होता। हृदय श्रेणियाँ नहीं गिनता। फिर किशोर प्रकृति से साथी है, मानव-जाति के हर सदस्य के प्रति वह साथी होने में विश्वास रखता है। गरीबों का, दलितों का साथी है तो फिर वीणा के साथी होने में उसे क्या दिक्कत है ! वीणा गरीब नहीं है, और दलित नहीं है। अमीर है और लाड़ली है। इसके अतिरिक्त भी बहुत-कुछ है। यों पूछिए तो शिक्षा, सौन्दर्य और आभिजात्य वीणा के पक्ष में बाधाएँ हैं, पर किशोर सहिष्णु है और इतर विश्व की भाँति इस एक वीणा का भी साथी है।

कहा, "लाओ-लाओ, दिखाओ।"

वीणा की झिझक का कारण था—सावन के दिन चल रहे हैं। कल कुछ फुहार थी। हलकी-मीठी धूप भी थी। ऐसे समय आकाश में इन्द्र-धनुष दीख आया। छत पर खड़ी होकर वह उसे निहारती रही। देखती है कि धनुष तो दो हैं। प्रकृति नहा उठी है। सब-कुछ सलोना है। फिर उस समय जाने कैसा मालूम हुआ ! वह अकेली थी पर अकेलेपन में भी मानो भीतर से भर आई। हिंडोले में झूलती-झूलती कुछ गुनगुनाने

लगी। भातर के रीतेपन को जो वस्तु अनायास भर जाती है उसके स्वाद को कुछ ठीक तरह कह नहीं सकते। वह मीठा भी है, और तीखा भी है और कड़ुवा भी है, और सलोना भी है। पर नहीं, वीणा कुछ नहीं जानती। उसे याद आती है, पर किसी खास की नहीं। वह चाहती है, पर जाने क्या—सच यह कि वह कुछ नहीं चाहती। दिन बहुत-बहुत सुहावना है। सब-कुछ सुहावना है। बयार कैसी प्यारी है। आसमान कैसा भीगा है। नन्हीं-नन्हीं फुहार कैसी भली लगती है। नहीं, वह कुछ नहीं जानती, वह कुछ नहीं चाहती। वह बस है और हिंडोलने में झूलती हुई गुनगुना रही है।

मानता टूटी तो उसे कुछ बुरा भी लगा। लेकिन उसने स्वयं तोड़ी थी, क्योंकि अपने से अलग कर उसे कुछ पंक्तियों में बाँध रखने का ख्याल हो आया। कागज-पेन्सिल लेकर तब उसने कुछ लिख डाला।

साथी किशोर के सामने उसे झिझक यही थी कि यह कैसी बड़ी भारी मूर्खता हुई। दुखी, दीन, दलितों को भूल कर उसने यह क्या कर डाला। बोली, "नहीं-नहीं, मुझ से कुछ लिखा नहीं गया।"

साथी ने कहा, "वीणा, ऐसे नहीं चलेगा। लाओ, देखें क्या लिखा है।"

वीणा ने कहा, "आज नहीं, शाम कुछ लिखकर कल दिखाऊँगी। आपने क्या विषय बताया था, मैं भूल गई।"

"कोई विषय ले सकती हो—जठराग्नि, कुदाली, कीकर का ठूँठ, विषय-ही-विषय पड़े हे। जिनका दुःख मूक है, काव्य की वाणी उन्हीं के लिए हो। उससे हट कर काव्य विलास हो जाता है। वीणा, साहित्य न विनोद न विलास, वह दायित्व है। सामाजिक पृष्ठभूमि जिसमें नहीं, वह रचना स्व-रति की द्योतक है। अपने को भुलाने और बहकाने से नहीं चलेगा, सामाजिक चेतना को प्रबुद्ध करना होगा। हम पूँजीवादी व्यवस्था की जकड़ में हैं, वीणा। उसका समर्थक साहित्य मीठा होने की

कोशिश करता है। भावना की उत्कटता को मन्द करके मानो हमें सुलाना चाहता है। हम को जागना होगा और साहित्य से सबको जगाना होगा। इस जकड़ को तोड़ना और क्रान्ति को सिद्ध करना है, वीणा। जो दीन हैं, वे दीन नहीं रहेंगे और जिनके हाथ में श्रम है, वे ही विधाता होंगे। परसों की तुम्हारी कविता ठीक थी। मैंने वह साथी उमेश को दे दी है। उसका ख्याल है कि वह अच्छा 'मार्च-सौंग' बन सकती है। लेकिन कल भी तो कुछ लिखा होगा, दिखाओ न ?"

"नहीं, कुछ नहीं लिखा।"

"नहीं वीणा, लिखा है और यह भी कह सकता हूँ कि अच्छा लिखा है। तुम जो लिखोगी, अच्छा लिखोगी।"

वीणा कुछ कहे कि माँ की गूँजती हुई आवाज सुनाई दी, "वीणा !"

वीणा को इस बात पर झल्लाहट है। यह बैठक, मकान के बाहरी हिस्से में है। साथी कोई मिलने आए तो अन्दर विघ्न उपस्थित नहीं होता। पर बैठक में बातचीत का स्वर चढ़ जाये तो भीतर सूचना हो ही जाती है। ऐसे समय माँ भी पुकारने से चूकती नहीं देखी जातीं। वीणा कुछ पुराने ढंग की होने पर भी यह सोचे बिना नहीं रहती कि मैं वीणा हूँ, पदार्थ नहीं हूँ। कीमती चीज को चौकसी की जरूरत हो, मैं अपना भला-बुरा जानती हूँ।

झल्लाई हुई बोली, 'क्या है, माँ?"

"क्या-क्या है ?" कहती हुई माँ उसी कमरे में आई और बोलीं, "इतनी देर से बातें कर रही है। यह नहीं कि माँ चूल्हे में होगी, सो देख लूँ, कुछ काम तो नहीं है !"

किशोर ने कहा, "नमस्ते, माताजी !"

"नमस्ते, तू कहती थी, रायता मैं बनाऊँगी। चल, देख न ?"

"चलो, अभी आई।"

"और तुझे खबर भी है, शाम को चौक से वे लोग आने वाले हैं !"

"हाँ, खबर है ।"

"तो आ रही है न ?"

"अभी आती हूँ ।"

मां चली गई । कुछ देर दोनों चुप बने रहे । फिर किशोर ने पूछा, "कौन आने वाले हैं ?"

"कोई नहीं ।"

"तो भी कौन ?"

"कह तो रही हूँ, कोई नहीं ।"

"नहीं वीणा, ठीक बताओ, कौन आ रहा है ?"

"मुझे देखने कोई आ रहे हैं ।"

किशोर झिझका । वीणा का चेहरा प्रसन्न न था ।

उत्साहित होकर किशोर ने कहा, "वीणा, हम किसी की सम्पत्ति नहीं हैं । हमें पढ़ाने-लिखाने की किसी ने भूल की है तो क्या यही परिणाम न होना चाहिए कि हम कहें, हमारे अपने विचार हैं और हमारा अपना रास्ता है । शिक्षा ने हमारी आँखें खोली हैं तो हम अन्धे बनकर रूढ़ियों के चक्कर में कैसे चल सकते हैं ? वीणा, तुम कमजोर नहीं होगी !" कहते-कहते किशोर ने वीणा का हाथ पकड़ लिया, "तुमसे हमें बहुत आशाएँ हैं, और मैं...मैं ...!"

वीणा ने क्षणेक अपना हाथ वहाँ रहने दिया और बोली, "मैंने कल एक कविता लिखी थी," और अन्दर की जेब से कागज निकालते हुए कहा, "देखो !"

किशोर ने कागज लिया और खोला—

वीणा ने कहा, "अब मैं जाती हूँ ।"

सुनकर, सिर उठाकर, उसने वीणा को देखा । कागज खोलते हुए अनायास ही कविता की ऊपर की पंक्ति उसमें उतर गई थी । और वह

सोच रहा था, "ओ, अपरिचित प्राण मेरे।" मैं, जिसको अपना बनाकर और फिर अपरिचित कहकर पुकारा गया है, वह क्या मैं ही नहीं हूँ !

"जाती हूँ।" कहकर वीणा वहाँ से जाने लगी तो आर्द्र कण्ठ से किशोर बोला, "वीणा !"

किन्तु वीणा उधर से पीठ मोड़कर चली जा रही थी।

किशोर कागज सामने बिछाकर कविता पढ़ने लगा। पढ़ते-पढ़ते वह खो गया। कब उसमें आँसू भर आए, उसे पता न था। जब टप-टप टपक कर कविता की स्याही उन्होंने फैला दी, तब उसे चेत हुआ। आँसू पोंछे। उसे किसी तरह निश्चय न हो रहा था कि कविता का अपरिचित प्राण, जिससे बिछुड़ा इसलिए जा रहा है कि बिछुड़ना सम्भव ही नहीं है, जो इतना अपना है कि अपरिचित होना सह सकता है, वह क्या मैं ही नहीं हूँ !

उसने कविता के कागज़ को ओठों से लगाकर अपने ही आँसू को पी लिया। उसे लग रहा था कि कविता में शब्द नहीं है, वाक्य नहीं हैं, छन्द नहीं, अर्थ नहीं हैं, उन सबके पार कुछ है, जिससे उसे छुटकारा नहीं मिलेगा।

कुछ उलझन

: १ :

श्याम,

लो, मैं बम्बई आ गया। आज मुझे यहाँ चौथा रोज है। तुम शायद समझते होगे, मैं लिखूँगा कि बम्बई मुझे नरक मालूम होता है। ऐसा नहीं है। नरक की कोई बात नहीं। आदमी बेचारा है और लाखों की तादाद में इकट्ठा हो जाने पर भी उसमें यह सामर्थ्य नहीं कि वह अपने मन के बाहर कहीं नरक पैदा कर सके। तुमने कहा कि मैं बम्बई रहूँ। वहाँ जो भागा-भागी और आपा-धापी मची हुई है, उसके स्पर्श में पड़ूँ। तुम जानते थे कि मुझ में योग्यता है, तब प्रमाद भी है। और शायद तुम्हें भरोसा था कि चारों-ओर से स्पर्द्धा के दबाव में पड़कर प्रमाद उड़ जायगा और मेरे भीतर की योग्यता निखर उठेगी। मैं नहीं जानता प्रमाद मुझ में कितना है। अगर वह है तो फिर अगाध है और अकारण नहीं है। खैर, वह होगा। अभी यहाँ के व्यग्र जीवन के आवर्त-चक्रों में तो यद्यपि मैं नहीं गया हूँ, फिर भी उस जीवन के प्रवाह में उतर चला हूँ। उस धारा के बीच अपने को स्थिर रखने में कठिनाई मुझे होती नहीं लगती है।

श्याम, मैं अपने जङ्गल में रहता था। वहाँ कुछ मैं ही थोड़े था—

घास थी, पौधे थे, पेड़ थे, पक्षी थे। इन सबके बीच मैंने अपने को कभी अकेला नहीं पाया। फिर क्यों और कैसा यह तुम्हारा आग्रह कि मैं जन-संकुल इस बम्बई में रहूँ। तुमने समझा हो कि शायद तुम मुझे अपने अकेलेपन से बचा रहे हो। पर मैं अकेला कभी था नहीं, कभी होऊँगा भी नहीं। क्योंकि, शून्य को भी अपना साथी बना लिया जा सकता है। लेकिन क्या तुम सचमुच समझते हो कि इस बम्बई में और उस हिमालय की तराई के जंगल में बहुत अन्तर है ? अन्तर तो है, पर वह बहुत नहीं है। वह अन्तर इतना ही है कि वहाँ आदमियों की न होकर पेड़ों की भीड़ थी। पेड़ क्या कम जीते हैं ? क्या वे कम विचित्र हैं ? क्या वे कम दुष्ट और अधिक साधु होते हैं ? हाँ, वे कोलाहल अवश्य इतना नहीं करते हैं और भागते भी नहीं फिरते हैं। लेकिन, उनकी भीड़ कब मनुष्य को निश्चिन्त छोड़ना चाहती है ? मैं, श्याम, तुमको यही कहना चाहता हूँ कि मैं बम्बई आ गया हूँ, इसमें मेरे लिए कोई विशेष व्याकुलता की बात नहीं है। आदमियों की दुनिया में मिलने-जुलने के अदब-कायदे हुआ करते हैं। उनसे जरा कम परिचित हूँ, इसे ही असुविधा समझो तो समझो; नहीं तो यहाँ मेरे साथ सब ठीक है। इस वक्त एक होटल में ठहरा हूँ, जिसमें सिर्फ़ बीस रुपये रोज मुझे देना होता है। वह बीस रुपये दे डालता हूँ और रोज रात को यह पा लेता हूँ कि मैं वैसा ही एक, वैसा ही स्वतन्त्र, वैसा ही स्वयं हूँ, जैसा जंगल में था। मुझे पूछने दो श्याम, कि जब यहाँ विशेष असुविधा मुझे नहीं है तब मुझको इस बम्बई के बीच पाने के आग्रह में तुम क्यों ब-जिद हो ? मैं जानता हूँ कि तुम ऐसे बहुत पैसे-वाले भी नहीं हो। तब तुमने क्यों हठ-पूर्वक मेरे पल्ले पाँच हजार रुपये बाँध दिये, कि मैं बम्बई जाकर उन्हें खर्च कर डालूँ ? मैंने भी यह पाँच हजार रुपयों का बोझ तुमसे ले लिया और निरापद भाव से उन्हें यहाँ खर्च कर दूँगा। तुम्हारी मनचीती होने में मैं क्यों बाधक बनूँ ? मैं सच कह रहा हूँ कि मुझे इसमें दुःख नहीं है। लेकिन, मुझे इस बोध का भी सुख नहीं है कि इस मेरे सुखाभास में तुम्हें

सुख मिल रहा है। रात को जब सोता हूँ, यहाँ चारों ओर शोर रहता है। वहाँ सन्नाटा रहता था। वहाँ मेरे स्वप्न निर्बाध आते और वैसे ही निर्बाध चले जाते थे। यह कहने का मतलब यह न समझना कि मुझे अपनी उस निर्जनता की याद कसकती है, या कि मैं एक क्षण को भी यह सोचता हूँ कि तुमसे पाँच हजार रुपये लेकर मैंने तुमको क्यों आभारी बनाया। कहने का मतलब सिर्फ़ इतना ही है, श्याम, कि तुम और भी पक्के होकर समझ लो कि पैसा दुनिया में निकम्मी चीज़ नहीं है। मैं एक महीने में एक हज़ार से ज्यादा ख़र्च नहीं करूँगा। एक हज़ार का खर्च क्या तुम मेरे लिए और अपने लिए भी काफ़ी नहीं समझते हो? तुम क्यों नहीं मेरी इस बात को मान लो कि एक हज़ार उड़ा देकर मैं लौट जाऊँ, शेष चार हजार तुम्हारे तुम्हें सौंपूँ, और फिर वहीं अपने जङ्गली बसेरे पर पहुँच जाऊँ। मुझे आशा करने दो, श्याम, कि तुम समझदार हो। तुम मुझसे कुछ बरस छोटे हो, यही समझकर मैं तुम्हारे रुपयों को अस्वीकार न कर सका था। यही देखकर मैंने तुम्हारी बात नहीं तोड़ी। मैं तुम्हारे लिए और भी ज्यादा कर सकता हूँ। अगर तुम्हारे पास कुल पचास हजार रुपया हो और वह सब-का-सब भी तुम मुझे लुटाने के लिए देना चाहो तो मैं ले लूँगा और लुटा डालूँगा। दान-पुण्य में नहीं, मात्र अपने पर लुटा डालूँगा। लेकिन इस ढङ्ग से मुझ द्वारा मिली हुई तुम्हारी तृप्ति तुम्हारी अपनी ही तृप्ति नहीं बनेगी। इसलिए एक हद तक ही वैसा सन्तोष मैं तुम्हें मिलने देना चाहता हूँ।

यह कहने की जरूरत नहीं कि तुम्हारी इच्छानुरूप मैं अब ढङ्ग के कपड़ों में रहता हूँ। सूट-बूट सब ठीक किये ले रहा हूँ। यहाँ की सोसायटी में भी प्रवेश कर लूँगा। जो होगा उसकी सूचना समय-समय पर तुम्हें देता रहूँगा। लेकिन, मुझे आशा करने दो कि मेरी एक महीने की सांसारिकता से तुम्हें तृप्ति हो जायगी। देखो भाई, श्याम, तुम्हारे चार हज़ार रुपये मुझे तुम्हें लौटा देने दो। रुपया बहुत काम आता है। एक यही उस रुपये की चरितार्थता नहीं है कि वह मुझ पर खर्च हो। मैं

उसके योग्य नहीं हूँ। वह भी शायद मेरे योग्य नहीं है। इसलिए तो तुम देखते हो, कि अगर मैं उसकी परवाह नहीं करता तो उसी को मेरी कब परवाह है !

हाँ कल वर्मा मिला था। याद आया ? वही अपना वर्मा ! यहीं होटल के हाल में एक मेज पर अकेला बैठा तीसरे पहर के सन्नाटे में शरबत पी रहा था। मुझे देखकर वह तपाक से उठा नहीं। हम लोग जाना करते थे कि वह दुनियादार है। पर उस वक्त उस चेहरे पर दुनियादारी अनुपस्थित थी। ऐसा लगता था जैसे कोई संकल्प, कोई स्वप्न उस पर सवार हो। मैंने कहा, "हलो वर्मा !"

उसने तनिक स्वीकृति में सिर झुकाया और आवाज दी, "बॉय।

बॉय के आ जाने पर उसने मेरी तरफ़ देखकर कहा, "क्या ? शर्बत या...?"

मैंने कहा, "नहीं, कुछ नहीं।"

उसने सिर घुमाकर कह दिया, "बॉय, एक गिलास शर्बत, केवड़ा। हाँ ब्लाडी, केवड़ा।"

इतना कहकर वह फिर अपने शर्बत के गिलास से लग गया।

श्याम, वह उस वक्त हमारा पुराना वर्मा न था। भला कभी वह इतना बन्द, इतना मितवाक, इतना गुमसुम हो सकता था ? क्या वह उन पुराने दिनों में सदा ही खिलकर बिखर पड़ने को उद्यत न रहा करता था ? लेकिन मेज़ पर बैठा हुआ वह वर्मा तो अपने में ही ऐसा समाया हुआ था मानो भीतर कोई बात उसके प्राणों को डसकर बैठ गई है।

मेरे सामने शर्बत आ गया, लेकिन मैंने पिया नहीं। वर्मा ने भी कुछ नहीं कहा। वह कई-कई सेकेण्ड बाद शर्बत का ज़रा-सा घूँट लेता था। इस तरह कई मिनट हो गये। अन्त में जब उसके गिलास में से आखिरी बूँद चूस ली गई और बर्फ़ का एक छोटा-सा टुकड़ा ही बस वहाँ बाकी

रह गया, तब अपने सामने से उस गिलास को दूर हटाकर वर्मा ने कहा, "सदानन्द, मैं अभी तुम्हें ही याद कर रहा था। तुम बम्बई में ? यह भी किस्मत है !"

मैंने कहा, "वर्मा मुझे मालूम न था कि तुम यहाँ रहते हो। बिलकुल और ही हो गये हो !"

श्याम, यह मत समझना कि वर्मा उस वक्त भी अपनी बाहरी धज में वही चुस्त-दुरुस्त न था। पर मालूम होता था कि जैसे वह अब उसकी आदत का हिस्सा है, मन उसका वहाँ नहीं है। उसने कहा, "और हो गया हूँ ! हाँ, शायद। दुनिया बदला करती है, सदानन्द। खैर, तुम यहाँ कल इस वक्त मिलोगे तो ?"

मैंने कहा, "वर्मा, मैं इसी होटल में हूँ। आओ चलें, कमरे में चलें।"

"चलें !" वह अस्त-व्यस्त-सा होकर बोला, "खैर चलने की बात देखेंगे...। अच्छा सदानन्द, वह तुम्हारे मित्र श्याम कहाँ हैं..लखनऊ में ? वह दुनिया के नाकाम आदमियों में से नहीं हैं न ? वह काम का आदमी है, क्यों सदानन्द ? सुना है, उसकी बड़ी अच्छी शादी हुई है। उसकी बीवी..."

श्याम, तुम ही बताओ, मैं उस वक्त वर्मा को क्या समझता, क्या कहता ? वह कुछ सुनने के 'मूड' में उस वक्त न था, जैसे अपने ही भीतर कहीं गिरफ्तार हो। आज की शाम बीती जा रही है और अब तक वर्मा नहीं आया है। मैं जरूर उसके बारे में तुम्हें लिखूँगा।

और कोई नई बात मेरे साथ नहीं है। तुम यकीन रख सकते हो कि तुमको मैं अपने बारे में अँधेरे में न रखना चाहूँगा।

तुम्हारा
सदानन्द

: २ :

लखनऊ, १० अक्तूबर

प्रिय भैया,

सादर वन्दे। आपके पत्र के लिए कृतज्ञ हूँ। आखिर इतने वर्षों बाद आपने पत्र लिखा तो।

मेरा ऐसा अनुमान है कि बम्बई में तबीयत लगने का गुण और जगह से कुछ ज्यादा ही है। आपके बारे में अवश्य तबीयत लगने न लगने का प्रश्न इतना नहीं है, पर बात यह है कि आप एम० ए० में फर्स्ट क्या इसलिए आए थे कि दुनिया से आप विमुख बन जायँ और दुनिया को अपने से लाभ न पहुँचने दें? मुझे नहीं मालूम पहाड़ की तराई के वृक्ष-पौधे आप से कितना लाभ लेते होंगे। यों बम्बई आप से लाभान्वित होने को चितातुर है, ऐसा तो नहीं है; लेकिन वहाँ चूँकि मानव-सम्पर्क अनिवार्य है, इसलिए समाज पर व्यक्तित्व की कुछ छाप पड़ना भी अनिवार्य है। समाज के प्रति व्यक्ति में विमुखता ही तो नहीं चाहिए न। इसी से मैंने चाहा कि हिन्दुस्तान में जहाँ सर्वाधिक कर्म-संकुलता है और जहाँ परस्पर बेहद रगड़ है, उस बम्बई मे आप अपने को पायें। जंगल के लिए तो हीन-सामर्थ्य लोग अधिक उपयुक्त हैं। जहाँ होड़ इतनी तीव्र है कि एक के व्यक्तित्व की सीमा-रेखाएँ दूसरे की मर्यादाओं के साथ संघर्ष में आये बिना रह नहीं सकतीं, जहाँ व्यक्तित्व परस्पर रगड़ में आकर एक-दूसरे को छीलने में और एक-दूसरे से छीनने में लगे हैं, ऐसी जगह ही एक सबल, स्वस्थ पुरुष का परीक्षण होगा। वहाँ का निमन्त्रण आपको कैसे अस्वीकार करने दिया जाय?

रुपए की बात कृपया न कीजिए। मैं भी उससे तङ्ग हूँ। उसके कमाने से तङ्ग हूँ। उसके खर्च करने से तङ्ग हूँ। कमाने के लिए खर्चो, खर्च करने के लिए कमाओ। कुछ निरर्थक-सा चक्कर है। पर जीवन है ही एक चक्कर। ग्रहण करो. विसर्जन करो। पाओ, खोओ।

लो, दो। और थक जाओ, तो आँख मींच सो जाओ। जीवन की परिभाषा ही यह है। हम पिता से जीवन लेते हैं, पुत्र को जीवन देते हैं। पिता को हम कुछ नहीं देते, पुत्र हमें कुछ नहीं देता। फिर भी पिता को भी देना पड़ा, हमें भी देना पड़ा, पुत्र को भी देना पड़ेगा। इन सबको फिर लेना भी पड़ा था।—संसार का यही चक्कर है। यहाँ ऋण झूठ है, उऋणता भी झूठ है। जिससे लेते हैं उसे भला दे क्या सकेंगे? और आपसे तो मैं लेता ही हूँ,—छुटपन से लेता आया हूँ। स्फूर्ति ली है, जिसे खर्चता हूँ उतनी बढ़ती है। तब इतनी दया करें कि रुपयों की बात न करें।

लीला को क्या आपने देखा है? शायद मुझे कहना चाहिए, श्रीमती लीला। वह तब चली गई थीं जब आप यहाँ थे। पर नाम से तो जानते ही हैं। लेकिन शायद यह न जानते होंगे कि वह आपको खूब जानती हैं। मैंने जब कहा कि आप बम्बई जा रहे हैं तब वह मेरी तरफ देखती रह गईं। उनके मुँह से धीमे से निकला 'बम्बई?' और वह मुझे देखती ही रह गईं। मानो बम्बई मायापुरी हो और आप इतने साधु कि वह आप के अयोग्य हो।

मैंने कहा, "क्यों, उनके बम्बई जाने पर ऐसी हैरत में क्यों हो?"

वह बोलीं, "नहीं, कुछ नहीं।"

मैंने तब बताया कि तुम उन्हें जानती नहीं हो। वह भला बम्बई अपने आप जाने वाले हैं। यह तो तुम्हारे इन सेवक पति श्याम बाबू की खातिर है कि सदानन्द कुछ महीने वहाँ रहेंगे।

वह साश्चर्य बोलीं, "तुम्हारी खातिर?"

मैंने कहा, "क्यों? मुझे वह सगा छोटा भाई मानते हैं।"

फिर वह धीमी पड़ गईं। बोलीं, "नहीं, कुछ नहीं।"

क्षणेक चुप रहने के बाद उन्होंने कहा, "छोटा भाई मानते हैं तो तुम्हारे विवाह में क्यों नहीं आये? तुम्हारे बुलाते-बुलाते तो यहाँ आते नहीं हैं, ऐसी ही तुम्हारी खातिर मानते हैं?"

मैंने हँस कर कहा, "अरे भाई, वह जोगी-ध्यानी हैं। विवाह आदि के बखेड़ों में उन्हें क्या राग है ?"

इस पर वह कुछ नहीं बोलीं और चली गईं। पर तीसरे पहर मैं अकेला था। उन्होंने आकर कहा, "बम्बई में वह ठहरेंगे कहाँ ? मुझे उनका पता देना। मैं उन वैरागी को आने को लिखूँगी। लिख दूँ ?"

मैंने कहा, "क्यों नहीं, जरूर लिखो। मेरी तरफ़ से भी लिख देना, जरूर आवें।"

उसके जवाब में उन्होंने कहा, "तुम्हारी तरफ़ से मैं क्यों लिखूँगी ? मैं अपनी तरफ़ से लिखूँगी। बोलो, नहीं लिख सकती ?"

मैंने कहा, "अरे-अरे, जरूर लिख सकती हो।"

सो भैया, तुम्हारा पता मैंने उन्हें दे दिया है। शायद वह तुम्हें लिखें। सदानन्द, मैं उन्हें नहीं समझ पाता हूँ और तुम्हारी मदद चाहता हूँ।

वर्मा बम्बई में है ? मुझको मालूम नही था। कुछ और उसके बारे में पता चला ? मुझे उत्सुकता हुई है। बात यह है कि कहीं इस उम्र में आकर प्रेम के प्रति वर्मा खुला है। यह एक मित्र ने मुझे लिखा था। देर का नशा गहरा होता है। प्रेम भी इतने दिनों अपने दबे रहने, परास्त रहने का, उसे भरपूर प्रतिफल देगा। उन मित्र का अन्दाज था कि कुछ ऐसी ही बात है। कालेज में तो वर्मा को खेलों और सोसायटी में चमकने से फुर्सत न थी। और अब जरा दुनिया के लिए वह खाली हुआ है तब प्रेम ने उस पर चोर-मार्ग से आकर धावा बोल दिया मालूम होता है। मुझे लगता है कि यही भेद उसके परिवर्तन के मूल में दुबका बैठा है। वर्मा की तत्परता, उसकी साहसिकता, उसकी प्रकृति का खुला खरापन, ये सब—कुछ इस प्रेम-व्यापार में उसके खिलाफ ही कहीं न पड़ जायें। देखिए, जरा उसकी ख़बरदारी भी रखिएगा। पत्र अवश्य देते रहिएगा। मुझे प्रतीक्षा रहेगी।

आपका

श्याम

: ३ :

लखनऊ, १० अक्तूबर

मेरे आनन, (मैं तुम्हें और क्या कहूँ ?)

आज बम्बई का तुम्हारा पता मुझे मालूम हुआ तब यह पत्र तुम्हें लिख रही हूँ। उनसे पूछ कर लिख रही हूँ। उन्होंने कहा है, जरूर लिखो। वह जानते हैं कि मैं उनकी मार्फ़त तुम्हें जानती हूँ। मैंने उन्हें नहीं कहा कि ऐसा नहीं है। सदानन्द, यह कैसी विडम्बना है ! सदानन्द, आज मेरा मन अशान्त है। बेहद अशान्त है।

मेरे विवाह को पाँच वर्ष से ऊपर हो गये हैं। तब से मैंने तुम्हें कभी पत्र नहीं लिखा। कभी चाहा कि तुम से मिलूँ ? कभी नहीं चाहा। चाह कर भी मैं क्या पाती ? मैं जानती थी कि तुम नहीं आओगे। मैं यह भी जानती थी कि तुमको नहीं आना चाहिए। पत्र लिखती तो क्या तुम उसका उत्तर देने वाले थे ? क्या इस पत्र का भी तुम उत्तर दोगे ? और मुझे इससे दुःख नहीं है। इस ज्ञान में मुझे सुख है कि तुम दूर रहते हो, अप्राप्य रहते हो। क्या इसीलिए नहीं कि कहीं भीतर तुम मुझे पास भी पाते हो ? मैं याद में हूँ तो मुझे भूलने की कोशिश कैसी ? इसलिए तुम्हारे समाचार का चिरन्तन अभाव, तुम्हारा अभाव, मुझे सुख देता रहता है कि तुम्हारे भीतर मैं हूँ, अभी भी वहाँ से निकली नहीं हूँ। और आज यही सुख मेरा सबसे बड़ा भारी दुःख है। मैं यह जानकर क्यों सुखी होती हूँ कि तुम मुझे याद रख रहे हो ?

देखो सदानन्द, वे दिन अब नहीं हैं जब मैं लिली थी और तुम आनन हुआ करते थे। मैं आज गिरिस्तिन हूँ, तुम विरागी हो। मैं पतिव्रता हूँ, तुम ब्रह्मचारी हो। मैं घर में हूँ, तुम वन में हो। मैं दायित्वों में हूँ, तुम निर्द्वन्द्व हो। दुनिया में अपनी जगह मैं हूँ, तुम्हारी जगह तुम हो। सदानन्द, तुम मेरे लिए नहीं मैं तुम्हारे लिए नहीं। तुम अपने लिए हो और मुझे छोड़ सबके लिए हो। यही हाल मेरा है। बस, तुम्हारी हो नहीं

और सबकी सेवा का अधिकार मुझे प्राप्त है। कहते हैं, सब विधाता का विधान है। विधाता को मैं नहीं जानती। पर उसी का विधान होगा। और नहीं तो किसका है ? उसी की यह दुनिया है। हमारे मन की यह कब है ? यों ही यह चलती है, यों ही चलेगी। लेकिन मेरी तबीयत कभी-कभी बहुत घबरा जाती है, बहुत घबरा जाती है।

सदानन्द, बताओ, क्या वह विधान सब ठीक है ? क्या आनन झूठ था ? क्या वे दिन झूठे थे ? क्या लिली मिथ्या थी ? फिर वे दिन प्यारे क्यों लगते थे ? फिर क्यों एक-दूसरे के लिए मरने के अर्थ जीने में भी हमें हर्ष मालूम होता था ? तब समय रंगीन क्यों बन गया था और जगत् क्यों सुखमय ? तब सब-कुछ हँसता-सा क्यों दीखता था ? सदानन्द उन दिनों पर वर्षों की तह-पर-तह जम गई हैं, लेकिन उन सबके नीचे क्या वे दिन हरियाले लहलहाते हुए अब भी जी ही नहीं रहे हैं ? सदानन्द, मैं आज 'श्रीमती लीलावती' हूँ, और तुम्हारे समक्ष भी अब कहती हूँ कि मेरे भीतर वह 'लिली' भी है और वह सदा रहेगी। आज की धर्मपत्नी लीलावती से तनिक भी कम वास्तव नहीं है वह लिली। शायद है कि अधिक सत्य वह ही ो। सदानन्द मुझे बताओ कि इस अपने भीतर के अत्यन्त सत्य को क्या पतिदेव के ओट मे ही सदा रखना होगा ? पाँच वर्ष से इस जीवन्त धड़कते हुए सत्य को अपने भीतर लिये ही लिये इस घर में जी रही हूँ ! इधर अब यह मेरे लिए दूभर हो चला है। मेरे पति को तुम जानते हो। कैसे स्नेही हैं, कैसे सीधे हैं, कितने परायण हैं लेकिन मैं इधर उनसे बहुत लड़ने लगी हूँ। उन्हें देखकर जी स्वस्थ रहता ही नहीं। वह हँसते हैं तो मैं कुढ़ती हूँ। जी होता है, अरे मैं मर क्यों न गई। सदानन्द, तुम विरागी हो, मुझे बताओ कि क्या ज़िन्दगी के एक-एक दिन ऐसे ही जीने होंगे ? मैं तुम्हारे अत्यन्त प्रियबन्धु,—अपने पति से बहुत अनमनी-सी रहने लगी हूँ। जब-तब तकरार खड़ी करती रहती हूँ, जिससे कि कोई क्षण तो ऐसा बने कि मैं आवेश में भूल जाऊँ और कह पड़ूँ कि पूर्ण सत्य क्या है। कह दूँ कि जो सती पतिव्रता देवी

लीलावती हैं, उनके भीतर एक और है, उसका नाम है लिली। वह पतिदेव की नहीं है, वह जाने किस,—और की है। अरे ओ मेरे स्वामी, मैंने उस लिली को कुचल-कुचल कर मिटा देना चाहा है, पर वह नहीं मिटी है,—नहीं मिटी है। मैंने यह तुमसे कह दिया है। अब जो कहो, वही करूँ।

पर सदानन्द, अपने विश्वासी पति की चिरप्रसन्न मुद्रा देखकर मेरी हिम्मत टूट जाती है। मैं उस निर्मल प्रसन्नता को कैसे तोड़ूँ ? जहाँ खिलखिलाती धूप ही भरी है, काला बादल कहीं भी कोई नहीं है, उस स्वच्छ आकाश को कैसे एक साथ अपने मैल के स्फोट से विक्षुब्ध कर दूँ ? यह मुश्किल है। मुझसे नहीं होता, नहीं होता।

लेकिन हाय, अपने भीतर का यह बोझ भी कैसे ढोऊँ ? कब तक ढोऊँ ? सदानन्द, जी में होता है एक दिन सबेरे उठकर अपने पति पर अनगिनत लांछन लगा डालूँ, अपने मन को उनके प्रति कालिमा से भर लूँ और अपने प्रति बलात्कार-पूर्वक कह दूँ, 'तुम्हारा-सा पति मैं नहीं सह सकती, इसलिए मैं जाती हूँ,' और इस घर की छाया को छोड़कर चल दूँ।

सदानन्द, तुम मुझे समझो। मेरी सारी व्यथा यह है कि क्यों मेरे पति इतने निश्छल, इतने उदार, इतने स्वरूपवान् हैं ? क्यों वह मुझ पर इतने विश्वासी, इतने स्नेही हैं ? क्यों वह इतने कृपालु हैं ? मेरे लिये सदानन्द, पति-कृपा असह्य हुई जा रही है। जब से मैंने जाना है कि उन्होंने तुमको पाँच हज़ार रुपये देकर बम्बई भेजा है, तब से मैं बेहद विक्षुब्ध हूँ। वह मुझे क्यों यों सताते हैं ? मुझे मालूम होता तो मैं एक पैसा नहीं देने देती। तुम्हें क्या है, राग न शोक। तुम्हारे लिए चाहे पाँच हज़ार ऐसे हों जैसे पाँच कौड़ी, लेकिन, मेरे मन पर तो वे जैसे मेरी ही क़ब्र का पत्थर बन कर बैठ गये हैं। तुम बताओ, ऐसे पति को मैं पति कैसे मानूँ जो मुझे इतनी तकलीफ़ दे सकता है ? सदानन्द, तुम उनको लिखो कि मैं अयोग्य हूँ। नाम से नहीं तो गुम नाम पत्र से ही उन्हें मेरे

सम्बन्ध में चेता दा। उन्हें बता दो कि मैं पतिव्रता नहीं हूँ। मैं तुम्हारा अहसान मानूँगी।

या तुम्हीं बताओ, क्या हो ? क्या ऐसा हो सकता है कि तुम यहाँ आओ ? मैं कभी-कभी सोच उठती हूँ कि हम दोनों एक दूसरे का हाथ पकड़कर उनके सामने चलें और मैं उनसे कहूँ कि 'सुनो जी, ब्याह से पहले मैं लिली थी, यह आनन थे। ब्याह को लेकर हम दोनों के बीच में तुम आ गये। लेकिन मैं जानती हूँ, तुम महान् हो, तुम किसी के बीच में आना नहीं चाहोगे। तब सुनो, क्या हम दोनों तुम्हारी इजाजत से अब फिर वैसे ही नहीं हो सकते ? तुम क्यों पति बनते हो ?—क्योंकि तुम तो मेरे पूज्य हो।' सदानन्द, मुझे लगता है कि मैं तो इस तरह की कोई बेवकूफी कर बैठ भी सकती हूँ, क्योंकि मेरे भीतर तुम नहीं जानते कैसी यातना है। लेकिन, उनके चित्त को चोट देने की कल्पना पर ही मैं सिहर जाती हूँ। ओ राम, मेरे पति ज़रा भी नालायक क्यों नहीं हैं ? सदानन्द, मुझे बचाओ। मैं तुम्हारे साथ विलास में भी जा सकती हूँ, नरक में भी जा सकती हूँ, जङ्गल में भी जा सकती हूँ, तुम्हारे साथ दुनिया की कुत्सा को भी मैं झेल लूँगी,—लेकिन यह जो मुझे स्वर्ग में रख रहे हैं, यह मुझसे नहीं झिलता। यह स्वामी का अकपट स्नेह, यह सर्वसन्तुष्ट गृहस्थी,—यह स्वर्ग मुझे निरन्तर काटता है।

मैंने इस पाँच हज़ार रुपये की बात पर उन्हें खूब कहा-सुना है। कि रुपया-पैसा उड़ाना ही तुम्हें आता है। पालने-पोषने के लिए गृहस्थी में तो जैसे कोई है ही नहीं। बस, मित्रों में ही वह खर्चा जाता है। मैं रूठी हूँ, मैं झींकी हूँ, मैंने न कहने लायक कहा है। पर वह मुस्करा देते रहे हैं, कह देते रहे हैं कि 'सदानन्द को तुम जानती नहीं हो।' उस समय जी होता है कि उन्हें गाली देकर अपना सिर फोड़ डालूँ, पर सब सहकर चुप हो गई हूँ और सदानन्द, पाँच-हज़ार क्या, कुछ भी वह तुम पर वार देंगे। सदानन्द तुम मेरी विपता समझते तो हो। बताओ, यह सब मैं कैसे सहूँ ? अपनी क्षुद्रता को मैं ऊपर लाकर दिखा देना चाहती हूँ, पर

पति की अनायास महत्ता के नीचे कुचली जाकर वह मेरी क्षुद्रता अत्यन्त सन्त्रस्त है। सदानन्द, मुझ क्षुद्र को यहाँ से उबारो। मुझे इस स्वर्ग से तोड़ कर चाहे कहीं भट्टी में झोंक देना। मैं वहाँ सुखी रहूँगी। सदानन्द, आओ। बताओ, मैं क्या करूँ ? क्या करूँ ?

तुम्हारी
लिली

: ४ :

बम्बई, १ नवम्बर

श्याम,

क्षमा करना, मैं इस बीच तुम्हें पत्र न लिख सका। कुछ उलझा रहा। अब सुनो, मैं तीन तारीख को लखनऊ पहुँच रहा हूँ। नहीं, दलील न करो। मैं बम्बई नहीं रहूँगा। और अपने बाकी बचे चार हजार रुपये तुम चुपचाप ले लोगे,—समझे ? चाहो तो उन्हें फेंक देना। पर अब मैं तुम्हारे खातिर भी वह रुपया न ले सकूँगा।

तुम्हारी धर्मपत्नी लीलावतीजी को मैं जानता हूँ। उन्हें मेरा प्रणाम कहना और कहना मैं तीन तारीख को घर पहुँच रहा हूँ।

हाँ, एक खबर है। अभी पढ़ने को मिला, वर्मा ने आत्म-घात कर लिया है। वर्मा और आत्म-घात ? अखबार की कटिङ्ग साथ भेजता हूँ। पढ़कर मन सन्न रह जाता है। श्याम, इस अजब दुनिया में आदमी भी अजब जानवर है ! शेष मिलने पर।

तुम्हारा
सदानन्द

मौत की कहानी

चर्चा छिड़ी प्रेम पर, आ पहुँची मौत पर। किस रास्ते प्रेम से चल कर बेहूदे विषय पर हमारी चर्चा आ गई, यह हमको ठीक तौर से पता नहीं चला। हमारी क्लब-मण्डली के रस-प्रधान सदस्य बाबू प्रेमकृष्ण भटनागर एडवोकेट ने कहा, "यह मौत जाने कहाँ से बीच में कूद पड़ती है कि हमारा सब करा-कराया चौपट कर देती है। इसके मारे नाक में दम है। आज यहाँ बैठे हैं, कल का भरोसा नहीं। ऐसे में क्योंकर कुछ करने को जी चाहे। यही है, कि जाने कब वह बीच में आ टपके; इसलिए जितने दिन रहना, मज़े से रहना; अपना तो यही उसूल है।"

इसके समर्थन में फिर एक शेर कहा, "जो मुझे याद नहीं है।"

प्रोफेसर ज्ञानविहारी ने कहा, "बस अब वह थोड़े ही दिनों की मेहमान है। अब भी अपनी दवाइयों से कम्बख्त को साल-दो-साल दूर भगाये रखते हैं। थोड़ी देर और ठहरने की बात है, फिर तो उसे ऐसी धता बताई जायगी, कि इधर भूलकर भी मुँह न करे।"

प्रोफेसर ज्ञानविहारी साइंस के बड़े प्रोफेसरों में से थे और पदार्थ-विज्ञान में विशेष पैठ रखते थे।

डा० विद्यास्वरूप ने कहा, "उसकी आवश्यकता अब धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है। जीवन क्या इसलिए है, कि उसका अन्त मौत में हो

जाय ? नहीं, जीवन की यह हार चिरकालीन नहीं हो सकती । जीवन का कुछ अर्थ ही नहीं, अगर मौत उसके आगे फुलस्टाप की तरह आकर बैठ जाय । इसलिए मृत्यु स्थायी वस्तु नहीं है । प्रकृति हमें इसलिए नहीं जिला सकती कि पीछे से हमें मार देना है । कहीं कुछ गड़बड़ अवश्य है जो हम मरते हैं । नहीं तो मरना अप्राकृतिक होना चाहिए, असम्भव होना चाहिए ।"

मैंने पूछा, "मौत का खाता बन्द हो जायगा, तो जन्म का सिलसिला भी रोक देना पड़ेगा । नहीं तो धरती पर ऐसी किचमिच मचेगी कि साँस लेने को भी जगह न रहेगी । बच्चे नहीं होंगे, तो स्त्री भी नहीं रहेगी । फिर पुरुष भी ऐसे नहीं रहेंगे । सब मिलकर हिजड़े-से बन जाएँगे । क्यों यही बात है न ?"

इतनी दूर की बात विद्यास्वरूपजी और ज्ञानविहारीजी ने काहे को सोची होगी । वह सहसा उत्तर न दे सके । ज्ञानविहारी हँस पड़े, और विद्यास्वरूप, जैसे सोच में पड़ गये । वह पी-एच० डी० हैं; इसलिए हर बात को उन्हें हस्तामलकवत् जानना चाहिए, ऐसा उनका ख़याल है ।

मि० खन्ना एडीटर ने कहा, "होगी, नहीं होगी, इससे हमें कुछ भी मतलब नहीं; पर चीज़ बड़ी खराब है । मेरा वश चले, तो एकदम रोक दूँ ।"

मैंने कहा, "मेरी भी यही राय है । इस चीज़ को अभी रोक देना चाहिए । और इसके लिए अभी यह काम करना चाहिए कि अगली बार इस मनमाने परमात्मा को खींचकर जब अपनी मर्जी के मुताबिक वोट देकर परमात्मा बनाने का मौका आये, तो इसके लिए हम तैयार रहें । खूब वोट्स कनवास करें, और मि० खन्ना को उसके लिए चुन डालें । मिस्टर खन्ना गये, कि हमें मौत से छुटकारा मिल जायगा ।"

इसी तरह की बातों से हम मौत को पकड़ कर ज़िन्दगी का मजा लेने लगे ।

मैंने कहा, "हम लोग उसके पीछे इतनी बड़ी-बड़ी बातें बनाते हैं। खतम कर देंगे, यह कर देंगे, वह कर देंगे। सामने जब वह आ पहुँचेगी, तो मुँह से बात भी न निकलेगी।"

प्रेमकृष्ण ने कहा, "वाह, मौत की क्या बात है! सैकड़ों हँसते-हँसते मर जाते हैं। कैसा मलाल, कैसा दुःख, जरा कुछ भी जो उन्हें ख़याल होता हो। पर ऐसा वही कर सकते हैं, जो ज़िन्दगी का लुत्फ उठाना जानते हों। वही मौत का भी मज़ा ले सकते हैं।"

फिर बात चली, कि किसी ने मौत देखी भी है या नहीं। आमने-सामने देखी हो, यह नहीं कि किताबों में पढ़ लिया, या दूसरे को मरते देख लिया।

सब सहमत हुए कि भय नाम का देव, है सचमुच बड़ा डरावना। और सोचने लगे कि वास्तव में वह किसी अस्त्र-शस्त्र से आदमी को नहीं मारता, दरअसल मारता ही नहीं, आदमी उसे देखकर डर के मारे आप ही मर जाता है।

एक हमारा मेम्बर है प्रमोद। इस स्थल पर वह भी आ पहुँचा। हम सब लोगों को बड़ी खुशी हुई। पूछा, "तुम तो कलकत्ते थे, कब आये?"

उसने कहा, "बस, आ ही रहा हूँ समझो। सोचा, शाम का वक्त है, पहले आप ही लोगों से मिल लूँ, फिर और कुछ करूँगा।....क्या बातचीत है?"

प्रेमकृष्ण ने कहा, "बड़ा झमेला आ पड़ा है। सवाल यह है कि किसी ने म्याऊँ का ठौर पकड़ा है।"

लगभग साथ ही मैंने कहा "बात यह है कि मौत का मामला है। यह जानना है कि किसी ने उसे आमने-सामने देखा है। तुमने इतना सब-कुछ देखा; पर इसे भी देखा है?"

प्रमोद ने कहा, "आप लोगों को शाम के वक्त यहाँ क्लब में मौत

देखने की सूझी है। यही था, तो अकेले मरघट में जाकर बैठते। वहाँ देख पाने की कुछ आशा भी हो सकती थी। वास्तव में मौत अपना रंग बदलती रहती है। किसी को कैसी दीखती है, किसी को कैसी। अब कुछ, तो फिर कुछ। या कहो कि वह वैसी ही रहती है, अलग-अलग तरह की दीखती है। मैंने जब देखा था, तब तो बिलकुल डरावनी नहीं मालूम हुई थी, अब जाने कैसी लगेगी।"

हम सब जानने को बड़े कुतूहल-ग्रस्त हुए कि इसने कैसे उसे देखा, और इसे क्यों डरावनी नहीं लगी।

डाक्टर विद्यास्वरूप ने हँसकर कहा, "मौत जिसे देखती है, उसे अपने साथ ले जाती है। इसलिए कि कोई उसे देखकर यहाँ फिर उसका भेद न खोल दे, जिससे उसका सारा डर-वर जाता रहे। तुम तो यहाँ-के-यहाँ मौजूद हो !"

प्रमोद ने कहा, "तो आप चाहते हैं, मैं यहाँ न होता, कहीं और चला गया होता। आप क्या चाहते हैं कि मैं स्वर्ग-लोक में चढ़ गया होता, या नरक-लोक में जा पड़ा होता। या बताइए आप चौरासी-लाख जोनियों में से किस जोनी में मुझे भेजना पसन्द करते ?...मैं तो अपने को बिलकुल छोड़ बैठा था कि मुझे अब कोई ले जाय, अब कोई ले जाय। पर कोई लेने ही न आया। और पाँच-मिनट इस मौत के चक्कर में पड़े रहने के बाद में चंगा हो गया। शक है कि पाँच-मिनट भी लगे या न लगे। शायद तीन ही मिनट में सब काम हो गया हो। उन तीन मिनटों के बाद मैं जैसा भला-चंगा था, वैसा ही हो गया। पान मैं तभी से नहीं खाता हूँ। मौत से डरने के बजाय मैं पान से डर लेना अपने लिए काफी समझता हूँ।"

इस तरह बहुत देर तक खूब झिकाकर खूब उकसाकर, जो कहानी उस कम्बख्त ने हमें सुनाई, वही मैं आज आपको सुनाता हूँ। उसके लिए आप मुझे जिम्मेदार न मानें।

* * *

उसने कहा—

पहले आप यह समझ लीजिए कि मैं हमेशा ऐसा न था। जब पढ़ता था, तब अच्छा शकील था, जवान था। जाने उम्र के साथ शकल क्यों बुड्ढी होती है। शकल का क्या जाबा है, जो वह उसी तरह भरी गुलाबी नहीं रहती। अब की शकल से आप बिल्कुल अन्दाज़ा नहीं लगा सकते कि मैं कामदेव था, और मन आसमान में रहता था। तब सोचता था, ब्याह नहीं कराऊँगा। क्या ब्याह-ब्याह ! घर के अन्दर ही नोन-तेल-लकड़ी के चक्कर में पड़कर घूमते रहो, और एक दिन आए कि थकथका-कर वहीं ढेर हो जाओ। तब कोई कहता कि तू अड़तीस बरस की उमर में चार बच्चों का बाप होकर फिर दूसरे ब्याह के लिए मरता फिरेगा, तो मैं उसे थप्पड़ लगाकर गाली देने का मजा चखा देता। पर आज मैं अचरज नहीं करता। यहाँ हर बात पर अचरज करते फिरोगे, तो उसी में मर जाओगे। ज़र्रा-ज़र्रा यहाँ का अचरज से भरा पड़ा है। यहाँ तो अपने काम-से-काम रखना चाहिए। तो मैं आपको वह बात सुनाऊँ। बहुत दिनों की बात हो गई है। मैं सेकण्ड-ईयर में था, या थर्ड-ईयर में, अच्छी तरह याद नहीं। उन दिनों मैं बड़ी सुधार की बातें सोचा करता था। गाँवों में विद्या की कितनी हीनता है, और हम लोग जो पढ़े-लिखे हैं, इस ओर अपना ऋण बिलकुल नहीं चुकाते हैं—यह सोचकर मुझ पर जिस भारी काम का उत्तरदायित्व है, उसका बोझ मैं अपने कन्धों पर अनुभव किया करता था। सोचता था—जरा पढ़ लूँ, कुछ हो जाय, फिर गाँवों की हालत सुधारने में लग जाऊँगा। जीवन की सफलता है उत्सर्ग में, बने-ठने फिरने में कुछ नहीं है। उन दिनों यह बात मानो मैंने अपनी रग-रग में समा ली थी। दधीचि और शिवि के कार्य और सनातन आदर्श को मानो खींचकर अपने भीतर रख लिया था और उसे ऐसा सजग रखता था कि कभी आँख से वह ओझल न होने पाए। उसके प्रकाश और उष्णता की ओर से कभी चित्त फेरकर रह ही न सकूँ, उस आदर्श को ऐसा प्रज्ज्वलित करके मैंने अपने भीतर समा

रखा था।

मेरे एक दूर के चाचा थे। वह गाँव के जमींदार थे, वहीं रहते थे। दाँतों के बीच में जैसे जीभ रहे, वैसे ही मानों अपनी कुशलता के बल पर वह वहाँ रह पाते थे। उनके पिता ने कहीं दूर देश से आकर अपने एक मित्र की सहायता पर भरोसा रख कर, असम्पन्न दशा में वहाँ पैर रखा था। वह साथ कौन भाग्य लाये थे, कि जहाँ कृपाप्रार्थी और कृपाजीवी होकर पैर-भर रखने की उन्होंने जगह पाई थी, वहाँ ही हवेली उठकर खड़ी हो गई। और इसके साथ ही उनके मित्र, जो वहाँ के जमींदार थे, उनका सब-कुछ गिरने लग गया। होते-होते यह मित्र हाल-बे-हाल हो गये, और मेरे चाचा के पिता, बिस्वा-बिस्वा होते, गाँवों के बीसों बिस्वे जमींदार हो चले। पुरानी ब्राह्मणों की अमलदारी और जमींदारी उखड़-कर वहाँ बिना किसी उत्पात के एक बनिये की अमलदारी कायम होने लगी, तो गाँव के कुछ वृद्ध ब्राह्मण पुरुष चेते। उन्होंने दल बनाकर कटिबद्ध होकर इस वैश्य-पुत्र का मुकाबला करने का निश्चय कर लिया; पर उनकी प्रमत्तावस्था में युग-धर्म ने ब्राह्मण-वृत्ति को तलाक देकर वैश्य-वृत्ति को वरण कर लिया है—यह उनको पता नहीं था। इस गाँव में ही नहीं, और बड़ी-बड़ी जगह आकर बनियों ने सिहासन पर अपना स्थान बना लिया है, और उन्होंने बड़ी-बड़ी अदालतें और बड़ी-बड़ी चीजें खड़ी कर दी हैं, इसका भेद भी उन्हें अच्छी तरह नहीं मालूम था। इस लिए इस अज्ञानता में उस ब्राह्मण-दल ने जो-कुछ किया, अदालत आदि बहुत-सी बाहरी वस्तु (Factors) बीच में आ जाने के कारण ऐसा कुछ हुआ कि वह उन्हीं के मुँह पर आकर पड़ा। वैश्य-पुत्र के झूठे मामले भी सच्चे होने लगे, और उन्हें अपनी मौरूसी जमीन से बेदखल होना पड़ा। इधर उनके सच्चे मामले भी चित्त पड़ने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण-दल चुप हो बैठा—खुलकर वैध-रूप से कुछ कर पाने की आशा छोड़ बैठा। और अकेला एक वैश्य सर्व-शक्ति-मान् होकर वहाँ राज्य करने लगा। सर्व-शक्तिमान् होने से मेरा मतलब

यह है कि वह सब शक्ति, जो बाहर से जमा हो सकती थी, उसके पैसे के नीचे आकर इकट्ठी हो गई। वस्तुतः वही सब पराई शक्ति वैश्य के पैसे से पुष्ट होकर वहाँ राज्य करती थी। मेरे चाचा के वह पिता तो अपनी निज की भीतरी शक्ति के अभाव में बेचारे राज्य क्या करते थे, उस राज्य के विस्तार में कैद होकर अपनी जान के लिए डरते-डरते दिन बिताते थे। जो उन्होंने जमा कर पाया था, उसका बहुत-सा भाग उसको कायम रखने के लिए, और उसके कारण जो डर उन्होंने अपने चारों तरफ खड़ा कर लिया था, उससे अपने को बचाने के लिए उन्हें खर्च करना पड़ता था। लेकिन जो डर भीतर है, उससे बचने के लिए लट्ठ लेकर बाहर आदमी को खड़ा कर देने से तो काम नहीं चल सकता। इससे डर तो उनका जाता नहीं था, हाँ, अपनी आय के इस तीन-चौथाई खर्च-से परमुखापेक्षिता उनके हाथ अवश्य आती थी।

लेकिन एक तरह के वह दबंग आदमी थे और चतुर थे। वाणी में एक प्रकार का प्रभुत्व था। भीतर खटका रहता था, पर बाहर-से ऐसे निश्शंक होकर, डाँटकर बोलते थे, कि सबको दबदबा मानना पड़ता था। इसलिए वह तो ठीक तौर-से चालीस बरस की अवस्था में मर गये। वह स्थूलकाय थे, भीतर लगे डर के कीड़े को दस बरस तक उनके कलेवर में से खाद्य मिलता रहा। अन्त में उसने चालीस बरस की अवस्था में बिलकुल खोखला करके उन्हें गिरा दिया और इस संसार से बिदा कर दिया।

पीछे छोड़ गये दो लड़के।—

"क्या ? कहानी कहूँ ? भूमिका की जरूरत नहीं है ?" मेरे टोकने पर मेरी ओर मुड़कर उसने कहा, "भूमिका के बिना तो कुछ हो ही नहीं सकता। वह तो बड़ी जरूरी चीज़ है, जैसे लंगूर को पूँछ उसके लिए बड़ी जरूरी है। उसके पूँछ न हो, तो आप समझते हैं, वह कूदता-फाँदता रह सकता है ? लंगूर तो वह दरअसल पूँछ के कारण ही है, नहीं तो

सिर-धड़ तो हरेक में होता है। वास्तव में वह पूँछ ही से लंगूर है, बाकी सब व्यर्थ की बात है। यही कहानी की बात है। भूमिका..."

"मैं बाज़ आया ऐसे टोकने से।" मैंने कहा, "अच्छा-अच्छा, बाबा, जैसी मर्जी हो तुम्हारी, कहो। नया लेक्चर मत शुरू करो।"...

उसने बिना रुके कहना जारी रखा—"आप उकताते हैं, तो मैं छोड़ देता हूँ। लेकिन फिर आपके पछताने का मैं दोषी नहीं हूँगा। मैं अब बात पर ही आ रहा हूँ। हाँ, तो हमसे कटे हुए हमारे दादा मेरे दो चाचा छोड़ गये।

घबड़ाएँ नहीं। यहाँ एक बात और कहूँगा। जबकी बात कहता हूँ, उससे एक साल पहले तक इन चाचाओं के अस्तित्व का मुझे पता भी नहीं था। बात यह थी कि हमारे दादा दो भाई थे। छोटे भाई की बहू शादी के दो साल बाद मर गई। अब दूसरे ब्याह के लिए बिरादरी में लड़की न मिली। हार कर हमारे सगे दादा ने छोटे भाई का ब्याह बिरादरी छोड़कर कर दिया। नतीजा यह हुआ कि हमारे परदादा जात से खारिज हो गये। खैर, वह तो दण्ड-वण्ड देकर और दो-एक ज्यौनार देकर फिर जात-बिरादरी में आ गये। छोटे दादा को काट कर ऐसा अलग कर दिया गया, कि उनसे सम्बन्ध रखना पातक होगया। बिरादरी के लोग इस पर कड़ी निगाह रखने लगे कि वे लोग आपस में खान-पान तो एक नहीं करते। उनकी निगाह बचाकर सम्बन्ध कैसे बनाया रखा जा सके? घर सें टूट कर आखिर और कहीं उन छोटे दादा को अपना बसेरा बना लेने को लाचार होना पड़ गया। ऐसी ही हालत में भटक-भटका कर वह आगरा जिले के उस गाँव में जा पहुँचे थे। वहाँ, जिस तरह वह जमींदार बन बैठे, यह आपको मालूम हो ही गया है।

हम सब बच्चों को उन चाचा-दादा के अस्तित्व के बारे में चिन्ता-पूर्वक बिलकुल अँधेरे में रखा जाता था। इसलिए पिछले साल जब मुझे एकदम पता चला कि हमारे एक चाचा हैं, जो गाँव में रहते हैं, जमींदार

हैं, तो मुझे अचरज के साथ प्रसन्नता भी हुई। दिल्ली शहर में रहता था और जाने गांधी-वांधी किस-किसकी किताबें पढ़ता था; इसलिए गांव की भूख जी में बड़ी लगी रहती थी। चाचा के गांव में रहने की बात क्या सामने आ गई, भूखे के सामने परसी-परसाई थाली आ पहुँची। और साथ ही, उसके साथ बड़े प्यार का खाओ—खाओ का अनुरोध भी आया।

वह बात यों हुई थी—

हमारे घरों में यों तो आना-जाना लगभग नहीं था। चिट्ठी-पत्री भी नहीं आती-जाती थी। फिर भी आत्मीयता थी। ऐसी भी आत्मीयता होती है, जो आने-जाने, चिट्ठी-पत्री के व्यवहार पर टिक कर ही नहीं जीती। वह बिना इस सहारे के यों ही सदा हरी रहती है। सो एक दिन उनमें से बड़े चाचा की चिट्ठी आई कि छोटे भाई को दुश्मनों ने लाठी से बड़ा मारा है, बच जाय तो खैर समझो, नहीं तो उम्मीद बिलकुल नहीं है। पिता आदि को तुरन्त आने के लिए लिखा था। हम लोगों को भी साथ बुलाया था। पिताजी खबर पाते ही फौरन चले गये, और स्त्री-वर्ग ने रोना आरम्भ किया। मुझे मेरी माता से यह भी मालूम हो गया कि अभी एक महीना पहले घर आकर जो मुझे खूब बाजार की सैर-वैर कराने ले गये थे, और जिन्होंने मुझे तरह-तरह की चीजें खिलाकर और तमाशे दिखाकर मेरी खूब खातिर की थी, वह वही मेरे छोटे चाचा थे, जिनके मारे जाने की खबर आई है। उनकी याद तो मुझे खूब थी। वही चाचा थे और उनको ही दुश्मनों ने मारा है, यह मालूम करके मेरा जी भर कर फूट चला और मैं एकान्त में जाकर रोने लगा।

फिर वह मर गये, अच्छे नहीं हो सके। वह कालिज में एम० ए० में पढ़ते थे। और हम में अपने में किसी तरह का अन्तर नहीं मानते थे।

अगले वर्ष की गर्मी की छुट्टियों में मैं अपने चाचा के पास गया।

बस, अब मैं कहानी पर आ गया हूँ। सुनिए।

* * *

मैंने जाकर देखा, चाचा उस बड़े-से गाँव में बुरी तरह अकेले रहते हैं। अपने पिता की तरह खर्च करने का शौक उन्हें नहीं है। इसलिए पैसा खर्च कर कुछ मुसाहब-कारिन्दों को भी वह अपने पास नहीं जुटा सके हैं। वह एफ़० ए० तक अँगरेजी पढ़े हैं। उसके बल पर अफसरों से कुछ दोस्ती बना बैठे हैं। और उस दोस्ती के बूते पर छोड़कर और कर्त्तव्य-परायण होकर अकेले-दम अपनी जमींदारी का काम चलाते हैं।

यहाँ आकर गाँव में मेरा यह करने और वह करने का इरादा सब मिट्टी हो गया। यहाँ का हाल-चाल ही कुछ टेढ़ा दिखाई दिया। मैं अपनी सदिच्छाओं को लेकर लोगों के पास पहुँचता, तो उनकी जुबान जाने कहाँ चली जाती। यों दिन-भर हुक्के के चारों ओर खाटों पर बैठ कर कहाँ-कहाँ के कुलावे मिलाया करते होंगे, मेरे जाते ही गुम-सुम हो रहते। मैं जानता हूँ, मैं कोट-पेंट में रहता था, बिलकुल उन्हीं की बोली में मैं बात नहीं कर सकता था। लेकिन क्या वह समझते हैं, उनमें मिलकर काम करने के लिए कोई पूरा उनके जैसा होकर ही रहेगा ? मैंने भी सोचा, अगर नहीं है गरज उन्हें शिक्षा और रोशनी की, तो क्यों मैं व्यर्थ बहुत-सी चिन्ता मोल लेकर हैरान होता फिरूँ। मैं फिर अधिकतर घर में रहने लगा। कभी अकेले बागों में, खेतों में सैर करने सुबह-शाम निकल जाया करता।

चाचा ने पैतृक-रूप में दो चीजें खूब प्रचुरता में पाई थीं—एक द्रव्य और दूसरे अदालत-बाज़ी का शौक। दूसरी वस्तु को उन्होंने खूब बढ़ा-चढ़ाकर उत्कर्ष पर पहुँचा लिया; इसलिए पहली वस्तु उतनी प्रचुरता में संगृहीत न रह सकी। वह द्रव्य पानी की भाँति द्रवित होकर बह-बहकर अदालत के गड्ढे में जा गिरने लगा। और उस गड्ढे के पानी में उसके चारों ओर बसने वाले जीव, टर्र-टर्र करते हुए, उसे भर-प्यास पी-पीकर, खूब स्थूल होने लगे।

चाचा के उस अदालतबाजी के शौक का मेरे हित में यह परिणाम

हुआ कि मैं अपना दिन-भर चाची के पास बिताने को खाली पाने लगा। चाची भी मेरे साथ बात-चीत करने को अपने को खाली पाने लगीं। वह होंगी कोई २२–२३ वर्ष की, पढ़ी-लिखी अच्छी थीं और समझदार तो...

प्रेमकृष्ण ने बीच ही में कहा, "अब इतनी देर में आई कहानी ! हाँ, पढ़ी-लिखी थीं, और कैसी थीं ?"

प्रमोद का स्वर भारी हो आया। उसने कहा, "कहानी आई नहीं, उनके साथ तो कहानी गई। वह अब नहीं हैं। मैं फिर दुबारा उनके घर पहुँचा, तो शव देखने पहुँचा। मैं समय पर पहुँच जाता, तो आशा है, वह मरने न पातीं। वह मुझे बहुत प्यार करती थीं। अपने बेटे को भी इतना न करती होंगी।"

प्रेमकृष्ण चुप हो रहे। प्रमोद ने रूमाल मुँह पर फेर कर कहना जारी रखा—

"वह बड़ी स्नेहशीला थीं। सबको वह प्यार करती थीं। मैं उनकी बातों को सुनकर अघाता न था; क्योंकि उन सब में उनका स्नेह बहता रहता था। वह अक्सर लाला-देवर-का जिक्र करती थीं। घण्टों हो जाते, लाला की बातों का पार न आता। उनका अतीत लाला-लाला-लाला से भरा था। एक पग भी उसमें रखतीं कि लाला की किसी-न-किसी बात-से आ ठुकरातीं। वह बात फिर जी में विद्रोह मचाती हुई उमड़ आती। और उसके बाद सिलसिला बाँधकर लाला की मूर्ति के साथ जुड़ी हुई और-और सब बातें भी, सिनेमा-चित्रों की भाँति आकर फिरती हुई चली जातीं, और उसी प्रकार कतार बाँधकर आँसू भी ढुलकते चले आते।

मैं कुछ वैसे ही एक बार के साक्षात्कार से, स्वर्गीय छोटे चाचा के प्रति कुछ आर्द्र भाव रखता था। अब वे अत्यन्त कोमल और अत्यन्त दृढ़ हो गये। मैंने उनके चित्र को अपने सामने बिलकुल प्रत्यक्ष कर लिया। उनके जीवन और मृत्यु के प्रत्येक विवरण से मैंने अपने को अवगत कर लिया।

इधर चाची सुनाया करती थीं, उधर शाम को मौका पाकर चाचाजी वही अपने छोटे भाई की हत्या का हाल सुनाते थे।

जिन्होंने उनके भाई की हत्या की, उन सबके नाम वह जानते हैं। इस बारे में उन्हें बिलकुल ही सन्देह नहीं है। प्रमाण असन्दिग्ध हैं। पर लाख कोशिश करने पर भी उनमें किसी को भी सज़ा न मिल सकी। गाँव-का-गाँव जो विपक्ष में होकर, एक बन बैठा है, उसके कारण गवाह नहीं मिल पाते हैं, यह अँधेरखाता है।

जिन-जिनके नाम बताये गए कि इन्होंने उस हत्या में भाग लिया था, वे मेरे अपने-आप दुश्मन बन गए। उनमें डालचन्द का नाम और उसका भाग प्रमुख था। पहले उसी ने लाठी मारी थी, इस बारे में काफी सबूत चाचा पा चुके हैं। इसमें कोई शक है ही नहीं। उस क्रूर ने गिरने पर भी कई लाठियाँ मारी थीं। वही छोटे चाचा का हत्यारा है। यह भी पता चला था, कि वह अभी तक इनका कर्ज़दार है और उस सिलसिले में जब कभी मिलता है, बड़ी भलमनसाहत से मिलता है। बड़ा विनीत बन जाता है। व्यवहार-चलन में बड़ी मिली-भगत रखता है। आये-गये नेग-काज पर चाचा के यहाँ न्यौता तक भेज देता है। बात मीठी करता है, पर भीतर छुरी है। पास एक गाँव है, उसका चार आना मालिक है। बड़ा रोबवाला और रसूखवाला आदमी है; पर एक नम्बर का बदमाश है। कम्बख्त किसी तरह हाथ नहीं आता।

इसके बाद परसादीलाल, माधोराम के भी नाम आते थे। उन्होंने भी अपने मन की करने में कसर नहीं की है। वे सब लोग मौका पाएँ, तो हमारे घर के हरेक आदमी को मार डालें। जैसे-तैसे बड़े ढब से, यह तो चाचा बच रहे हैं; नहीं तो मौके की तलाश में रहते हैं। चूकने वाले नहीं हैं।

इन सब बातों से मैं बड़ा सशंक होकर रहता था। यह डालचन्द नाम का आदमी कैसा है, कौन है, यह जानना चाहता था, फिर भी नहीं जानना चाहता था। वह मालूम कर ले, कि मैं इनका रिश्तेदार हूँ, तो

मुझ पर ही न हाथ साफ कर बैठे। माधो के देने न ऊधो के लेने में रहनेवाले, एक हँसमुख, मिठबोल, निरीह प्राणी को जब यह डालचन्द अपने साथियों को लेकर लाठियों से कुचल-कुचलकर मार सका, तो उसके हाथ से और भी कुछ क्यों नहीं वैसा ही आसानी से हो सकेगा, यह मेरे मन में नहीं बैठता था। मैंने गाँव के पास के बाग के किनारे की जामुन के पेड़ों और कुछ झाड़ियों से ढकी हुई वह तिमिराच्छन्न जगह कई बार देखी और उसके साथ मिलान करके हर-हर बार उस डालचन्द की काली घनी भयंकरता भी अपने मन से साकार बनाकर देख ली।

साथ ही कभी-कभी मैं यह सोचता था कि यदि एक ओर से विश्वास और सचाई के साथ मैत्री का हाथ बढ़ाया जाय, तो क्या वह दूसरी ओर की बर्बरता उतनी ही क्रूर बनी रहेगी? क्या वह कुछ कम कठिन न होगी? और क्या यह अच्छा न होगा?

* * *

गाँव में रहते-रहते मुझे पन्द्रह-बीस दिन हो गये। ज़िन्दगी में इतने दिनों में कोई नई बात ही सामने नहीं आई, जिसमें स्वाद मालूम होता। जैसा आज का दिन, वैसा ही कल का दिन, ठीक बिलकुल वैसे ही और सब दिन। मन लगाने को और बहलाने को यहाँ अदल-बदल कोई ज़रा भी नहीं मिली। एक-सा सपाट जीवन, कोई चढ़ाव-उतार नहीं।—मेरा इससे जी भर गया। जिसे मैं भूख समझता था, वह शायद भूख नहीं होगी। क्योंकि गाँव का स्वाद चखने-चखने में ही मैं तो अघा उठा था, अच्छी तरह चबाकर उसे भीतर डालने का अवसर भी नहीं आने दिया। भूख होती, तो बिना इतना किये मिटती?

खैर, तो मुझे उस समय बड़ा आराम मिला जब चाचा ने कहा, "चलो, आज एक दावत खाने चलना है।"

मैंने कहा, "कहाँ चलना है?"

उन्होंने कहा, "पास ही एक गाँव है। दूर नहीं है। शहर की दावतें देखी हैं, एक यह भी देखो।"

बीस रोज़ में एक तो चीज़ मिली, उसे भी छोड़ देता ?—मैं झटपट बिलकुल तैयार हो गया।

दावत क्या थी विडम्बना थी। उन गुट्ठल-सी कचौरियों को सामने लाकर कहा जाता, ',बाबूजी, यह और लीजिए, बड़ी करारी है, गरमा-गरम, तो जी होता, उठाकर फेंक दूँ। साग में नमक है, तो मिर्च नहीं, और मसालों का तो नाम न लीजिए। बस दही-बूरा, दही-बूरा। ज्योनार क्या थी, दही-बूरा था। वही सपोटे जाओ। और सचमुच लोग ऐसे सपट्टे मार रहे थे, कि सुड़ड़सप की आवाज़ दूर तक सुनाई पड़े।"

एक ने कहा, "बाबूजी को दही देना, दही।"

जिससे कहा गया, वह मेरे पास आया ही था, कि चिल्लाया, "परसादी, ओ परसादी, वह बूरा उठाता ला।"

मैं हठात् इस परसादी नाम के आदमी को देखने में लग गया।

इधर दही वाले आदमी ने ढेर-सा दही पत्तल पर बिखेर दिया।

वह परसादी बूरा लेकर मेरी तरफ आया। काला चेहरा है, आँखें सुरुचि-पूर्ण नहीं हैं। बाल, अभी कटी दूब से हैं, मूछें घनी-काली हैं।

मैंने कहा, "मैं बूरा नहीं लूँगा।"

परसादी ने पस भरकर बूरा पत्तल पर डाल देने का इरादा करते हुए कहा, "बाबूजी, थोड़ा ले लीजिए।"

मैंने पत्तल को दोनों बाँहों से ढककर कहा, "मैं नहीं लूँगा, नहीं लूँगा।"

"बाबूजी थोड़ा तो लेना ही होगा"—यह कहकर वह पस-भर बूरा उसने वहीं छोड़ दिया। उसमें से कुछ मेरे हाथों पर आ रहा, कुछ जगह पाकर पत्तल में जा गिरा और वह काला मुँह लेकर परसादी इस पर हँसने लगा।

इस परसादी नामक कुलक्षण व्यक्ति को क्यों एकाएक मेरे आतिथ्य के प्रति साग्रह हो उठना चाहिए, यह उस समय मेरे लिये बड़ी दुर्भावनाओं का विषय बन गया। कुछ देर बाद मैंने समझा कि मैंने इसका भेद समझ लिया।

इस सफेद पिरामिड के भीतर दबे हु दही-सागर से, इतने लोगों के बीच में बैठकर, मैं क्या करके अपना पिंड छुड़ाऊँ। इसको सोचकर कुछ निश्चय करूँ कि एक नाम पिघले-सीसे की तरह कान में सनसनाता चला गया। किसी ने कहा, "चाचा डालचन्द, बाबूजी को दही दिया है, एक कचौरी तो और दे जाना।"

मैंने एकदम आँख ऊपर उठाकर देखा। डालचन्द ताज़ा कचौरियों का डल्ला लेकर हँसता हुआ मेरे सामने आया। गोरा-भरा चेहरा था, मजबूत हाथ-पाँव थे। बिलकुल गँवार नहीं मालूम होता था। आँखें हँस रही थीं, जाने क्यों हँस रही थीं।

आकर बोला, "लो बाबूजी, एक कचौरी तो मेरे हाथ की भी लो।"

हाय राम, यह क्या हो रहा है! मैं कुछ बोल नहीं सका, हाथ पत्तल के ऊपर करके फैला दिये।

'बाबूजी, यह बात नहीं होगी'—उसने कहा, "एक तो लेनी ही पड़ेगी।"

और यह कहकर बड़ी तरकीब से एक कचौरी उसने मेरी पत्तल के बीचों-बीच डाल ही दी।

अब मैं उस कचौरी को लेकर क्या करूँ? उसे उसी डालचन्द के, वेहयाई से हँसते, चेहरे पर फेंककर मार सकूँ, तो ठीक हो जाय; लेकिन इतने बड़े जन-समुदाय से घिर कर—जो अब बड़े सम्मान और आग्रह के साथ मुझ शहरी सभ्य को ही देख रहा था—यह मुझ से किसी तरह भी नहीं बन सका। और मैं चुपचाप उस कचौरी को एक हाथ से चूर-चूर करके, उसकी एकाध किनकी को बूरे के ढेर से छुआ कर, मुँह चला-चलाकर खाने का दिखावा करने लगा।

जब पंगत उठी, तो इस भारी संकट से मैं छूटा। राम-राम करके, झटपट हाथ-वाथ धोकर, बाहर निकलकर, कब घर भाग जाने का मौका मिलेगा, यह सोच रहा था। लेकिन बाहर आता हूँ, तो देखता हूँ, द्वार रोके पानों के थाल लिये लोगों की एक भीड़ खड़ी है।

मैं पास आया, तो सुना, किसी ने कहा, "चाचा डालचन्द, बाबूजी को पान दो।"

मुड़कर देखा, तो कहनेवाला है, "परसादी।"

डालचन्द ने एक बड़ा-सा बीड़ा देखकर, थाली में से उठाकर, हँसते हुए, मेरे सामने कर दिया।

झपटकर उसे लेते हुए मैं दरवाजे से बाहर हो गया।

पान फेंक देने की कहीं सुविधा मुझे नहीं मिल रही थी; इसलिए उपयुक्त अवसर और स्थान की प्रतीक्षा में मैं पान के बीड़े को हाथ में ही लिये था, कि चाचा ने कहा, "ज़रा रूमाल देना।"

मैं बायें हाथ से बायीं तरफ की जेब टटोलने लगा। लेकिन रूमाल था कोट के दायीं तरफ के अन्दर की जेब में।

चाचा ने कहा, "निकाला ?"

बायें हाथ से उस जेब में से रूमाल निकालने में कठिनता हो रही थी। मैंने झट उस हाथ को खींचकर, उसमें पान लेकर, दाहिना हाथ जेब की तरफ बढ़ाना चाहा।

इसी समय—"अरे, अभी तक रूमाल नहीं निकला !"—कहते हुए उन्होंने मेरी ओर मुड़कर मेरी संकटापन्न अवस्था को देख लिया। पूछा, "अरे, हाथ में यह क्या है, पान है ! रख क्यों छोड़ा है, खा क्यों नहीं लेता ?"

मैंने कहा, "मैं खाता नहीं हूँ पान।"

"ऐं, खाता नहीं है !"—उन्होंने कहा, "खा-खूकर खतम कर। क्या तमाशा बना छोड़ा है।" यह कहकर जैसे वह मेरे हाथ से लेकर पान मेरे मुँह में देने को हो गये।

तब मैंने स्वयं उसे मुँह में ले लिया। चबाना शुरू करना था, कि झट थूक डालने के लिए मुझे कहीं दौड़कर अलग जाना पड़ गया। हलक तक से सारा थूक मैंने बड़े जोर के साथ खखार-खखार कर निकाल दिया और पास के पेड़ की छाँह में पड़ी एक चारपाई पर लेट गया।

* * *

सिर चकरा रहा था। बदन में सनसनाहट-सी फैल रही थी। जी में उबकाई आ रही थी और धरती-आसमान झूलने लग गया था। सब-कुछ जैसे मुझे बीच में करके मेरे चारों ओर चकराने लगा।

अब जैसे सब-कुछ ठीक-ठीक समझ में आने लगा। सिर में रुई धुनी जा रही थी, फिर भी विचारों में अद्‌भुत संगति थी। पागल हो जाने-जैसी कोई भी बात नहीं थी। हरेक बात का कार्य-कारण और परिणाम-सम्बन्ध ठीक मिला करके बैठा सकता था।

संशय नहीं रहा, कि कूच का वक्त अब आया, अब आया। महायात्रा के लिए प्रस्थान करने से पहले जहाँ बैठे हैं, वहाँ से कैसे विदा लेनी चाहिए, यह प्रश्न अपनी स्पष्टता में सामने आ गया। मैं उसी को निश्चित करने में लगा और इधर-उधर की बात कोई भी मुझे तंग करने नहीं आई। घबड़ाहट कुछ नहीं थी, जल्दी बिलकुल नहीं थी। जहर है, क्या है; सम्भव हो सकता है, कि भूल से कहीं कुछ कम जहरीला रह गया हो; उपाय की सम्भावना हो सकती है, कम-से-कम वैसी चेष्टा आवश्यक है—आदि-आदि विचार मुझे अस्थिर नहीं कर पाये। जाना है, सो किस तरह खूबी के साथ जाया जाय, यही एक विचार मुझे वश में किये था। मेरे चुपचाप उठ जाने की बात क्रमशः माता-पिता, बहन-भाई को मालूम हो ही जायगी, इसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। उनके जी में एक कसकता हुआ अभाव रह जायगा—इसका हलका-सा आभास हृदय में क्षण-भर को उदित हुआ; किन्तु फिर वह विलाप का रूप धारण करेगा, कैसा दारुण विलाप मचेगा—इन सब

सम्भावनाओं पर जाकर फिरने का अवकाश मेरे विचार को नहीं मिला। बस, इसी एक प्रश्न को केन्द्र बनाकर मेरी समग्र मानवीय चेतनता उसके चारों ओर, सुलझाने के यत्न में परिक्रमा करती हुई घूमने लगी, कि किस प्रकार अपनी बिदा को सुन्दर बनाकर यहाँ से अपने को मैं मुक्त करूँ।

सोचा—क्या यह नहीं हो सकता, कि यह सब आपसी वैर-भाव को मेरी लाश के ऊपर मिलकर आँखों की राह बहा दें और परमात्मा के दो सगे पुत्रों की भाँति हिल-मिलकर रहें। मुझे मरते हुए की तरफ देखकर क्या यह लोग मेरी अन्तिम अभिलाषा को मान लेने के लिए विवश नहीं हो जाएँगे ? मरते-मरते मैं अगर एक के हाथों को दूसरे के हाथों में देकर दोनों के आँसू अपने ऊपर ढलवा सका, तो मैं फिर बड़ी सुख-शान्ति के साथ आँख मींच लूँगा। मृत्यु फिर मेरे लिए बड़ी सुन्दर हो जायगी। समझूँगा, जीवन इस मौत में आकर सार्थक हो गया। उस सुखद दृश्य को उत्पन्न करके फिर उसे इस धरती पर अपने पीछे चिरन्तन-रूप में जीवित रहने के लिए आँख मींचकर, चुपचाप चल देने के लिए मुझे क्या दर्द शेष रह जायगा। मैं फिर मानों अमर होकर अपने सृष्ट किये हुए इसी स्वर्ग-दृश्य के लोक में रहने के लिए चला जाऊँगा।

मन की वैसी विमल शान्ति और स्थिरता (Equipoise) उसके पहले और उसके बाद मैंने फिर कभी अनुभव नहीं की।

लेकिन बदन मानों ऐंठ रहा था। ऐसी कुछ मिचलाहट जी में मच रही थी, कि जैसे अँतड़ियाँ भीतर से उबक कर. बाहर होकर, एक-एक बिखर जाना चाहती हैं।

एक आदमी उधर से जा रहा था। सहसा मुझे वहाँ पड़ा देखकर मेरे पास आया और विस्मित प्रश्नवाचक दृष्टि से मेरी ओर देखने लगा। बहुत साहस करके उसने पूछा, "क्या हुआ ?"

मैंने जैसे-तैसे, संकेत से कुछ बोलकर उसे यह समझा दिया कि चाचा को तुरन्त यहाँ आना चाहिए।

लगभग तुरन्त चाचा वहाँ ग्रा गये। पूछने लगे, "क्यों क्या हुग्रा ?"

उस समय मेरे दिल में एक साथ कैसी विनीत याचना ग्रौर कैसे दृढ़ विश्वास के भाव का उदय हो ग्राया था, वह सब-कुछ मेरी ग्राँखों में ग्रा रहा होगा। मैंने वाणी को बिलकुल स्थिर बनाने की चेष्टा करते हुए कहा, "हुग्रा कुछ नहीं है। जरा जी मिचलाता है।" फिर लेटे-लेटे, बराबर की खाट पर बैठे ग्रौर हैरान होकर मुझे देखते हुए चाचा के चेहरे पर ग्रपनी उस समय की ग्राँखों को भरपूर जमाकर ग्रौर उनके दोनों हाथ ग्रपने हाथों में लेकर मैं उनको देखता रह गया।

चाचा ने घबड़ाकर कहा, "ऐसा क्या हुग्रा है ?"

मैं फिर ग्राँख नीची करके रोने लगा।

चाचा ने ग्रपने हाथों को उसी तरह मेरे हाथों में रहने दिया ग्रौर वह मेरी ग्रोर देखने लगे।

मैं उन्हें किस तरह से कहूँ, कि मैं यहाँ कुछ मिनटों के लिए ग्रौर हूँ। ग्रौर उन मिनटों में वह जल्दी करके इस भतीजे को प्यार कर लें ग्रौर डालचन्द ग्रादि को बुला दें; क्योंकि उनका भतीजा इन मिनटों में यहाँ की धरती को स्वर्ग बनाकर चल देना चाहता है। ज्यादा समय उसके पास नहीं है।

मैं उनके दोनों हाथों को मींज-मींजकर कभी ग्रपने गाल के नीचे करके ग्रौर कभी ग्राँखों के पास फेरकर खूब रोने लगा।

उन्होंने कहा, "ग्ररे, बात क्या है, क्या बात है ? कुछ कह भी।"

मैं कह क्या पाता ? सिसक-सिसककर रह जाता।

कुछ देर बाद मानों ग्रपने ग्रापसे कहा, "ठहरो, डालचन्द से जाकर कहता हूँ। ग्रभी साइकिल पर चढ़कर शहर से डाक्टर को बुलाकर लाए। लड़का रो क्यों रहा है, जाने क्या हो गया है।"

फिर वह तेजी से उठकर ग्रन्दर को चले गये।

हाय ! चाचा, तुम डालचन्द को कहीं मत भेजो ग्रौर डाक्टर को

मत बुलाओ। कुछ फायदा नहीं है। और तुम सब लोग यहाँ आओ। मेरी एक बात सुनो। मैं बहुत नहीं करूँगा, बस, वह...मान लेना। मैं सुखी हो जाऊँगा और तुम्हारा अहसान मानूँगा। और चला जाऊँगा।

चाचा के लौटने पर यह सब बातें उन्हें समझा दूँगा। और बड़ी अच्छी बात होगी कि डालचन्द भी उनके साथ होंगे। वह मेरी बात अवश्य मान लेंगे। मरते हुए के जी की एक बात नहीं मानेंगे? वह जरूर मान लेंगे। बस!

इतना कहकर प्रमोद चुप हो रहा। हम सब चुप बैठे थे। चुप बैठे-बैठे एक-दो-तीन मिनट हो गये। चौथा बीतने लग गया। यह प्रमोद क्यों यों चुप होकर कुर्सी पर आ बैठा है। फिर क्या हुआ, कहता क्यों नहीं। हारकर इस सन्नाटे को तोड़कर प्रेमकृष्ण ने कहा, "फिर?"

प्रमोद ने कहा, "फिर क्या, बस।"

प्रेमकृष्ण ने झल्लाकर कहा, "अरे तो फिर क्या हुआ? लौटकर आये, डाक्टर आये, फिर कैसे हुआ?"

प्रमोद ने हँसकर कहा, "बस, कहानी खतम हो गई। होना-जाना क्या था।"

प्रेमकृष्ण ने और भी खीझकर कहा, "तो तुम यहाँ कैसे बैठे हो? ठीक बताओ, क्या हुआ, तुम कैसे बच गये?"

प्रमोद ने कहा, "बच कहाँ गया, मर गया। मरकर फिर जी गया और अब यहाँ आ गया हूँ।"

प्रेमकृष्ण ने कहा, "क्या फ़जूल बकते हो जी! ठीक बताओ, फिर क्या हुआ, क्या नहीं? फिर तुम बच कैसे गये? बड़ा होशियार डाक्टर होगा, या उस डालचन्द को ज़हर देना नहीं आया होगा।"

प्रमोद ने कुछ और झिकाकर कहा, "अच्छा, बता ही दूँ?"

सबने बताये जाने की इच्छा प्रकट की।

प्रमोद ने कहा, "वहाँ से बच गया, तो यहाँ आप लोग मुझे नहीं मारने लगेंगे?"

हम सब लोग हँस पड़े। पर हँसी में उसने बात उड़ नहीं जाने दी। उसने सबसे वचन लेकर ही छोड़ा। कहा, "एक बार मौत में पड़कर अब बार-बार मरने की इच्छा नहीं रह गई है। इसलिए खूब सोच-समझकर चलना चाहता हूँ।"

सबसे वायदे लेकर और सब-कुछ पक्का करके उसने कहा, "उठो, चलो। पान में ज़रा-सी तम्बाकू पड़ गई थी।"

मैं उठकर चल दिया।

प्रमोद के बजाय हम सबने अपने सामने की मेज़ को खूब ज़ोर-ज़ोर से पीटना शुरू कर दिया!

रुकिया बुढ़िया

बुढ़िया का नाम रुकिया है। इस मुहल्ले में वह तीन बरस से रह रही है। मुहल्ले-वालों को इसका पता नहीं है। शहर है, अपने-अपने धन्धों से किसी को बहुत समय नहीं बचता है। तिस पर, वह बुढ़िया है।

हाँ, जब आते-आते ही उसने साँझ के मेल में, जमनाजी से लौटती बेला इस बालिका या उस बालक के हाथ में आप-ही-आप फूल देने आरम्भ किये, तो चट मुहल्ले के सब बालक उसे जान गये, तो उनके पास इस बुढ़िया के लिए बना-बनाया नाम था ही, नानी। वह इनकी नानी बुढ़िया हो गई। होते-होते नानी से भी बालकों को सन्तोष होना कम होने लगा। सम्बोधन में मानो जितना अपने जी का अपनापा वे बालक भर देना चाहते हैं, यह नानी शब्द उतना अपने में धारण नहीं रख सकता है। यह शब्द जैसे कहीं ओछा रह जाता है।

एक साँझ बुढ़िया जमना से फूलों की डलिया सिर पर रीती लिये लौटती थी। तभी राह में बालकों के इस ऊधमी दल ने घेर कर उसे रोक लिया। वे सब-के-सब ज़रूर-ज़रूर एक-एक फूल अपने लिए लेंगे। देख लेना, बिना लिये टल जायँ तो—। चिल्लाकर बोले, "नानी बुढ़िया, फूल दे।"

उसी समय उस झुंड में की सरसों बेटी ने कहा, "नानी नहीं..." और मानो गाकर कहा, "नानो बुढ़िया, फूल दे।"

अनायास नानी उस सरस्वती कुमारी के कण्ठ में से नानो बनकर निकलीं। और तुरन्त वहाँ खड़े बालकों ने प्रत्यक्ष देख लिया कि नानी का यह नवाविष्कृत रूप, नानो, उनके मन के अधिक भीतर है। नानो—अर्थात् हमारी अपनी नानी। नानी में अपना निजत्व भरा जाय, तो किस तरह उसे नानो बन उठना होगा—यह हमारी समझ में कुछ भी नहीं आ सका है; पर सच, बालकों को लग रहा है कि नानो बनाकर नानी को उन्होंने अपने जी में जैसे और गहरा उतार लिया है। बालक-बुद्धि ही तो है! फूल अब बिलकुल बिसर गये, और हिलमिलकर वे सब दोहराने लगे, "नानो बुढ़िया, फूल दे। नानो बुढ़िया फूल दे।" और उस बुढ़िया के चारों ओर वे बालक उछल-कूद भी मचाने लगे।

बुढ़िया ने कहा, "फूल रहे नहीं, बेटा।"

यह बुढ़िया भी कैसी है! फूल रहे नहीं, तो इसमें कौन बहुत बड़े अन्याय की बात है? पर यह उनकी बुढ़िया क्यों अच्छी तरह नहीं सुन पाती है कि वह नानी नहीं, नानी से बढ़कर आज से वह नानो है। उन्होंने कहा, "नानो बुड़िया फूल दे।"

बुढ़िया ने कहा, "फूल निबट गये, बेटा।"

सरसों ने कहा, "बुढ़िया तू नानी है?"

"हाँ बेटा..."

बाला ने ज़ोर से कहा, "नहीं, तू नानी नहीं है।"

बालिका ने बताया, "नानी नहीं है, बुढ़िया, तू नानो है। नानो बुढ़िया है।"

बुढ़िया के जी में हुआ, वह इस प्यारी नन्नी को उठाकर तनिक प्यार कर ले। कैसी फूल-सी है! पर, सोच आया, वह बुढ़िया है, और उसके कपड़े चीथड़े हैं, और मैले हैं, और उसकी देह में हाड़ बड़े निकल रहे हैं।—बच्ची डरेगी। उसने कहा, "अच्छा बेटा!"

सरसों ने कहा, "नानो बुढ़िया, तू फूल नहीं लाई हमारे लिए ?"

बुढ़िया ने कहा, "कल लाऊँगी, बेटा, कल ज़रूर लाऊँगी।"

देवेन्द्र उर्फ़ दिब्बू ने पूछा, "नानो री, तू कब मरेगी ?"

दिल्लू (दिलीपकुमार) ने कहा "जब मरे, हम से कह दीजियो। बिना कहे मत मरियो। हम सत्त-राम करेंगे। नानो, हम सब साथ चलेंगे।"

"अच्छा बेटा।"

सरस्वती ने कुछ सोचकर कहा, "नानो बुढ़िया, तू मरेगी, मैं तेरे पै फूल डालूँगी। जित्ते फूल होंगे, सब डाल दूँगी।"

बुढ़िया के हाथों में डलिया थी। आँखें उसकी भीगने को आ गईं, और वह उन्हें पोंछ सकी नहीं। बोली, "नहीं बेटा, फूल तुम सब बाँट लेना। मरघट में क्या अच्छे लगेंगे, तुम्हारे हाथों में फूल अच्छे लगेंगे।"

अब बुढ़िया को कौन बताये कि नहीं, अच्छे लगने की बात बिलकुल नहीं है। ऐसी सरस्वती मूरख नहीं है। सो क्या उसके जी में यह है कि मरघट में फूल अच्छे लगेंगे ? पर, नानी को जब होश नहीं रहेगा, तब लड़के सब-के-सब उसके फूलों पर हल्ला मचाना चाहेंगे; सो, तब नानी का एक भी फूल वह इधर-उधर किसी को नहीं ले जाने देगी—हाँ; एकाएक नानी की अर्थी पर चिनकर रख देगी—यह सारी बात है। उन्ने कहा, "तू तो मर जायगी, नानी, तुझे कुछ भी पता नहीं चलेगा, और मैं सब-के-सब फूल तेरे पर ही डालूँगी।"

और वह ऐसी सन्नद्ध-सी खड़ी हो गई, जैसे फूल डल रहे हैं, और वह देखने को तैयार है, कौन है जो एक भी फूल ले जाना चाहता है।

नानी ने कहा, "अच्छा बेटा।"

निम्मो नाम वाली निर्मला ने कहा, "नानी, तू अच्छी नहीं है। हमें तू फूल नहीं लाके देती रोज़।"

एक और ने उसकी धोती पकड़कर कहा, "नानी, हमें डलिया दिखा, फूल हैं तेरे पास।"

नानी ने कहा, "नहीं हैं बेटा, और डलिया नीची कर दी।"

उस डलिया में जो फूल की पत्तियाँ और टूटे बताशे, तुलसी और बेल के पत्ते, और नाज के दाने पड़े थे, एकदम उन पर छीन-झपट मच पड़ी। डलिया सम्भाले रखना बुढ़िया को मुश्किल हो गया।

अब बोलो, यह कहीं का शऊर है! बुढ़िया ने कहा, "चलो, हटो। नहीं हैं कोई फूल-वूल—हाँ, तो...बदमाश।" और यह कहने के साथ बुढ़िया ने अपनी डलिया छिना लेनी चाही।

इससे कम, या इससे अधिक, बालकों को और क्या चाहिए था। कुछ इधर हो गये, कुछ उधर हो गये, और अब डलिया के साथ, स्वयं बुढ़िया पर छीन-झपटी-सी करने लगे।

बुढ़िया को कुछ सूझ नहीं पड़ा। उसे गुस्सा हो गया, और डलिया थामे, सब प्रहारों को बचाती हुई, उसी हाथ से अपनी ओर से भी कुछ प्रहार-सी करने लगी।

इतने में ही कौशल से डलिया उसके हाथ से छिन गई, और सामने ही व' दूर फेंक दी गई, और बालक फुर्र हो गये।

बुढ़िया चुपचाप अपनी डलिया उठाकर बड़बड़ाती हुई अपने स्थान को चली गई।

: २ :

इस तरह बालकों के सहारे वह बुढ़िया रहती है। और कहीं उसका सहारा नहीं है। सब ओर टूट चुकी है, किसी भी ओर और हिलगा हुआ बन्धन शेष नहीं है। अब अपने हृदय के सारे तारों को इन बालकों में अटकाकर वह जी रही है। इनसे उलझ लेती है, हँस लेती है; उन्हें कोस लेती है, और प्यार कर लेती है; इन्हीं को लेकर आँसुओं के कड़वे घूट पी लेती है, इन्हीं से फिर अपने जी को हरा भी कर लेती है;—वह बुढ़िया इसी भाँति जी लेती है।

एक छोटी-सी कोठरी में रहती है। वहाँ पहले एक की गाय बँधती

थी। बड़ी मुश्किल में वही कोठरी उसे मिल गई है, उसी को गोबर से सुथरा करके, अपनी चीज़-बस्त लेकर वहीं रहती है। उसका डेढ़ रुपया महीने किराया देती है, और उसमें सील भी कम नहीं है, और चूहे भी कम नहीं हैं, और धूप वहाँ कभी दीखती नहीं है, और गाय-बैल भी पड़ोस के लाला-साहब के बराबर में रहते हैं, और वह परमात्मा को धन्यवाद देती हुई उस कोठरी में रहे आती है। वह सबके हाथ जोड़ने को तैयार है, और अपने जीने के लिए परमात्मा से लेकर सब आदमियों की कृतज्ञ है।

फूलवाली है, फूल और पत्ते लेकर साँझ-सवेरे जमनाजी पै जाती है। वहाँ से जो पाती है, उसमें से मकान-मालिक को किराया देती है, पेट पाल लेती है, और बहुत-कुछ बालकों में बाँट देती है।

तड़के-सबेरे तीन बजे उठकर जमनाजी के लिए वह चल पड़ती है। बेल के और तुलसी के पत्ते, और बताशे आदि सब-कुछ वह अपनी डलिया में सही-शाम से ही ठीक करके रख देती है। पर फूल सबेरे-हाल डाल से उतारे ले जाती है।

इस कोठरी में जिसमें दिन में रात रहती है, और रात में जिसमें उस बुढ़िया और उन चूहों के अतिरिक्त शायद केवल नरक ही रह सकता है—उस कोठरी में कैसे पता चलाती है कि तीन बज गये, समय हो गया, अब चल पड़ना होगा ! पर इसमें चूक नहीं होती। फूल लेकर कोई नहीं पहुँचता, तभी जमनाजी पहुँच जाती है, और सड़क के मोड़ पर बैठ जाती है। बैठी-बैठी डलिया सामने लिए वह सोचती है...नहीं, सोचती नहीं है। सोचने को उसके पास है क्या ? सब ठीक-ही ठीक है,—सो उसके मन में मालिक के लिए धन्यवाद ही है। और कुछ निर्माल्य के आँसू भी हैं।...नहीं, सोचती नहीं है,...ठिठुरी बस बैठी रहती है।...नहीं जी, ठिठुरी भी कहाँ बैठी रहती है—बस, तभी जमना वालों का आना-जाना लग जाता है। उस समय वह काम से भर उठती

है। जल्दी-जल्दी फूल-परशाद के दोने लगाने लगती है। कहती है, "माईजी, फूल-परशाद ले जाम्रो।"

और माई फूल-परशाद का दोना ले जाती हैं। कहती हैं, "रुकिया, अच्छी है ?"

रुकिया प्रसाद का दूसरा दोना लगा रही होती है, आभार में, निक ऊपर देख सकुच रहती है, और दूसरा दोना दूसरी माई के हाथ में थमा देती है।

वह इस समय बड़ी प्रसन्न हो जाती है। ये जो रोज़ प्रसादी ले जाती हैं, इनमें से वह किसके नाम नहीं जानती है, सबके ही जानती होगी। उनके बेटे-पोतों के बारे में भी थोड़ा-बहुत जानती है। कभी-कभी दोना देती हुई पूछती है, "अजी तुम्हारा नया मुन्ना तो अच्छा है ?"

उत्तर मिलता, "बड़ा दंगा करने लगा है जी वह तो—"

वह कहती, "भगवान बड़ी उमर दे।"

इन इतनी जनियों के सुखों-दुखों में जानकारी और सहानुभूति रखकर उसे अपना अलग कुछ न रखने का अभाव बिसर जाता है।

कहती जाती है—'माईजी परशाद ले जाओ, परशाद चढ़ाओ,' और वह तत्परता के साथ परशाद के दोने देती जाती है। जिसके हाथ में जो होता है, डालती हुई अपने दोने सँभाले माई चलती चली जाती हैं। कोई पैसा डाल देती है, कोई आधी मुट्ठी गेहूँ डलिया के पास बिछे वस्त्र पर बिखेर देती है, कोई पस्स-भर जौ गिरा देती है, कोई मन्सूरी ताँबा फेंक जाती है। कोई-कोई पुण्यवती इकन्नी भी डाल जाती है। बुढ़िया सबको एक-सी प्रसन्नता और उद्यतता के साथ प्रसाद देती जाती है। बदले में उसे कौन क्या दिये जा रहा है, उसे बिलकुल ही ध्यान नहीं रहता। हाँ, इकन्नी गिरती है, तब उसे पता चले बिना नहीं रहता। सब छोड़, पहले वह उसे अपने सलूके के भीतर की जेब में रख लेती है। कोई बिना कुछ दिये ही चली जाती है। बुढ़िया नहीं जानती, सो नहीं; पर

ऐसी कौन-कौन हैं, यह उसने कभी भी अपने मन को पता नहीं चलने दिया है। एक ही श्रद्धा-भाव से सबको दोने देती है। इकन्नी गिरना उससे नहीं छिपता सही; पर इकन्नी डालने वाली इस भीड़ में से खास कौन है, मानो यह पहचान और याद रखने की उसमें सामर्थ्य नहीं है।

कभी कोई माई कहती है, "रुकिया, आज मैं पैसा लाना भूल गई हूँ, और भी कुछ नहीं ला सकी हूँ।"

तब रुकिया को ऐसा प्रतीत होता है, जैसे किसी अभियोग का आरोप उस पर किया जा रहा है। वह बचाव सा करती है, कहती है, "जी, मैंने कभी कुछ कहा है ?"

माई कहतीं, "कल लेती आऊँगी, रुकिया।"

और रुकिया का जी मानो एकदम कठोर हो जाना चाहता। उसके जी में होता, कह दूँ, 'तो कल ही ले जाना प्रसाद' पर उससे किसी भाँति भी कठोरता प्रकट करते न बनती, और वह तिरस्कृत अपराधी की भाँति कुण्ठा से लजा उठती। उसे लगता, हाँ, वह स्वयं इन फूल-पत्तों के चढ़ावे के दोनों को मोल-तोल की चीज़ बनाकर बैठी है ! और तभी जैसे इस पापमयी चेतना का निराकरण कर डालने में सचेष्ट होकर उसका जी कहता,—नहीं, मैं इन्हें मोल करके बेचती नहीं हूँ। मैं तो दे देती हूँ, और फिर उसी तरह दूसरों का और परमात्मा का प्रसाद रूप में दान दिया हुआ जो पाती हूँ, उस पै जी लेती हूँ। और वह कहती, "माँजी, कैसी बात तुम कहती हो !"

और माँजी भी अनुभव करतीं कि वह अयुक्त बात ही कहती थीं, और संकोचपूर्वक बुढ़िया के हाथों से दोना लेकर चली जातीं।

कोई दस बजे दिन तक यह रहता है। तब तक वह ऐसी रहती है, मानो उसके भीतर कोई अभाव विद्यमान नहीं है। आते-जाते से बेकाम भी खुश होकर दो बात कर लेती है; आस-पास फूलवालियों से कुछ ठट्ठे की बातचीत भी हो जाती है, और किन्हीं-किन्हीं से रसीला भी कुछ हो जाता है।

फिर तट सूना हो जाता है । लोग चले जाते हैं । जमना अकेली बहती रहती है । पथ निर्जन दीखता है । प्रान्त सन्नाटा ले उठता है । कभी-कभी मोटर भागती आती, और धूल उड़ाती हुई भागती चली जाती है, सपने में जैसे चिड़िया अपनी राह आई, और उड़ गई । पेड़ वैसे ही खड़े रहते हैं । और बटोही, पराये-से, कुछ ढूँढते-से, राह जाते दीखते हैं ।...और धूप सिर पर आती होती है—

तब वह चारों ओर देखती है, और साँस लेती है, और डलिया में अवशेष फूल-पत्तियों को, और आज पाये पैसे और अनाज को अलग-अलग सँगवाकर, उठ खड़ी होती है, कपड़े झाड़ती है, अँगड़ाई लेती है, और सिर पर डलिया लेकर चल पड़ती है ।

चलती-चलती, ठीक सूरज की जलती आँख के नीचे तीन मील राह तै करके घर आती है । वही घर, जहाँ दिन में रात रहती है, और रात में नरक रहता है । और दिन-रात यह बुढ़िया रहती है ।

फिर तीसरे पहर जाती है, और अँधेरा हुए आती है, और फिर अँधेरे-अँधेरे में ही तड़के तीन बजे चली जाती है ।

सुबह को इस तरह वह शाम से मिला देती है, इस तरह रात काटती है, और अपने जीने के दिन काटती है ।

: ३ :

क्यों जी, बुढ़िया के और रुकिया के और फूलवाली के अतिरिक्त क्या कुछ और, यह कभी नहीं रही है ? क्या यह जन्म की बुढ़िया ही है, ऐसी ही बुढ़िया है ?...किन्तु कभी यह और कुछ कैसे रह सकी होगी ? बुढ़िया और नानी न होकर यह कैसे होगी ?...

और, क्यों जी, बालकों ने मिलकर नानी बनाया है, तो क्या उन्हें पता चला है कि यह माँ कब बन सकी थी ? जीवन में यह कब माँ बनने का अवसर पा सकी है ?—या पा सकी भी है या नहीं ?...

पर इसमें भाई, बालकों का कोई जिम्मा नहीं है, और यह कोई तर्क

नहीं है कि नानी बनी हैं, तो माँ उन्हें बन चुकना ही चाहिए। नहीं, बालक सो कुछ नहीं जानते। उनकी यह नानी है, तुम चाहे कुछ कहो, चाहे कुछ करो।...

लेकिन, हम पूछें, जैसा है वैसा ही क्या रहेगा ? और वैसा ही कौन रहता आया है ? परिवर्तन में से ही हम सत्य देखेंगे। सत्य परिवर्तनीय न हो, हम परिमित हैं। हम यही जानते हैं, जो जैसा है, वैसा न था, और वैसा न रह पायगा। और हमको इसी भाँति जानना चाहिए। इसमें हमारा बस नहीं है। जीता हुआ पुराना होकर मर जायगा, नया जियेगा। नया उठता है, जीत में जीता है, इसीलिए कि हार कर पुराना हो, झड़े, और खाद बनकर धूल में मिल जाय। यह भाग्य नहीं है,— यह सौभाग्य है। इसी सौभाग्य के मंगल-चक्र के नीचे, वेबस हम जड़ प्राणी बिलखते हुए जीते-मरते हैं। कम्बख्त हम हँस भी तो नहीं सकते !

सो, यह रुकिया नहीं थी, रुक्मिणी थी। फूल नहीं ले जाकर बेचती थी, स्वयं बोलते फूल की नाईं घर के आँगन में चहकती फिरती थी, और माँ-बाप को धन्य करती थी। माँ-बाप पैसे से हीन न थे, अच्छे खाते-पीते थे। उनकी यह पहली लड़की थी, और अब तक आखिरी भी थी।

ऐसे लुभावने बैन बोलती थी कि क्या कहा जाय ! और ऐसी निखरती-खिलती आती थी कि बड़ी उमर तक, डर के मारे, माँ इसके माथे पै काजल का काला टीका लगा देती थी। चाँद निष्कलंक न दीखे कहीं, नहीं तो गजब हो जायगा।

इसी भाँति उमर वह हो आई कि माँ-बाप को सोच होने लग गया। ब्याह करके, अपने घर से दूर कर दें इसे, तब उन्हें चैन की नींद मिले।—

और पड़ोस में रहता था एक बढ़ई। ये लोग खत्री थे, और वह खाती। और उस खाती के एक लड़का था। बड़ा हुशियार उठा था।

दिल्ली आये-हफ्ते आया-जाया करता था, और कल-पुर्जे की बड़ी बातें सीख गया था। नाम था दीना।...

सो, जब ब्याह की तैयारियों की बातें होने लग गईं, तब दीना ने बड़े चुपके से कमरे में प्रवेश किया, जिसमें उस वक्त दर्पण के सामने खाट पर रुक्मिणी बैठी थी। वह अकेली थी, और नहीं, दर्पण में नहीं देख रही थी, दर्पण की सुधि उसे नहीं थी, सोच में मुरझी, मुँह लटकाये बैठी थी।

दीना ने कहा, "रानी ?"

रुक्मिणी ने सुन लिया, पर देखा नहीं, बोली नहीं।

दीना ने कहा, "मेरी रानी"—

रुक्मिणी के आँसू छलछल कर आये, और फेर कर मुँह जो चादर में उसने ढँका, तो फफक-फफक कर रो उठी।

अब तक इस एकान्त में, कुछ उसके भीतर से उठ कर घना होता हुआ व्याप रहा था। परिभाषाहीन, लक्ष्यहीन, अर्थहीन—सांध्यवेला में धरती की छाती में से निकलती हुई उसाँस जैसा। रात्रि में परिव्याप्त शीतलता से छूकर फिर वह उसाँस आप-ही-आप धरती के हरे रोमों पर गिरकर बूँद-बूँद मोती बना आ ठहर जाता है—वैसा ही दीना के सम्बोधन से एकाएक उसका उच्छ्वास तरल होकर झर-झर-झर उठा।

दीना खो-सा गया। खाट पर आकर एकदम उसे गोद में सम्भाला, कहा, "क्या है, मेरी रानी ?—बोलो।"

और रानी गोद में रही, बोल नहीं सकी, फफकती रही।

और फिर एक साथ उठकर जाने को हो गई। दीना ने उसे कठोर-तर आलिङ्गन में बाँध लिया।

रुक्मिणी ने जोर से कहा, "हटो," और वह अपने को जैसे, छीनकर अलग हो गई, और चली गई।

नहीं, रुक्मिणी को इससे प्रसन्नता नहीं है। अरे, उसका जी चीरकर

देख लो—नहीं है। पर क्या है?—नहीं जानती।...वह कोठरी में आकर चटाई पर औंधे मुँह पड़ गई, और सिसकने लगी।

माँ की आवाज आई—"रुक्मी!"

और रुक्मिणी ने उठकर द्वार की कुण्डी लगा ली, और फ़र्श पर बिछी चटाई पर जोर से माथा ठोककर वैसी ही पड़ गई।

माँ कहती रही—रुक्मी,—"ओ रुकमनी!—कहाँ गई लड़की, जाने..."

रुक्मिणी ने उठकर छत को देखा, आँसू ढालते हुए, दोनों हाथों को जोड़कर कहा, "ओ, मेरे भगवान्!"

और छाती मसोसकर खड़ी हो गई, कुण्डी खोलकर बाहर आई, और बड़ी तत्परता के साथ माँ के सामने पहुँचकर बोली, "क्या है, माँ?"

"तू कहाँ थी?"

"कहीं नहीं, यहीं थी।—काम है, माँ?"

"हाँ"—और माँ ने जो काम बताया, करने में लग गई।

: ४ :

पर, विधि की गति अपरम्पार है। ब्याह नहीं हुआ, और ब्याह से एक रोज़ पहले, उसने देखा, अपने माँ-बाप के घर से टूटकर, रोती हुई, दीना के कन्धे से लगी और बाहुओं में थमी, वह उसके साथ चली जा रही है।—नहीं, उसको सुख नहीं है; उसके जी में दर्द है; कहाँ जा रही है, उसको पता नहीं है; फिर क्या होगा, कुछ उसको खबर नहीं है;—पर, वह उसके हाथों में थमी, कन्धे से लगी,—जा रही है।... वह समन्दर में लेजाके पटक देगा?—क्या बुरा है; पटक दे; वह आँख मूँदकर, उसका नाम लेती, डूब जायगी।—वह जा रही है।

और दिल्ली है शहर, जो पास है, और जहाँ सब खपता है। वहीं

वह रुक्मिणी आई। यहाँ दीना की बिरादरी वालों का एक का घर है। दूर का रिश्ता भी दीना का उनसे होता है। वहीं वह ठहरी।

, रुक्मिणी सुन्दरी है। लज्जाशीला है, सावन-भादों में जैसे पली है। प्रेम जैसी भारी चीज़ से भरी है, इससे स्वयं हलकी नहीं है। इसलिए प्रेमिका नहीं है, गृहिणी है। सेवा में उसका प्रेम तुष्ट है, उत्सर्ग में उसे तृप्ति है। अधिकारशील उसका प्रेम कम है, इसलिए उसमें लग सकता है कि चमक कम है, धार कम है, नमक कम है। फुहारें उसमें नहीं हैं, क्योंकि गहराई अधिक है।...वह गृहिणी है, गृहिणी नहीं बन सकी, इसलिए अभागिनी है। वह प्रेम-भरी है, इससे प्रेमिका होना उससे नहीं सम्भलेगा।

और दीना! दीना उतावला है, इससे जल्दी अघा जाने वाला है। उसे अतृप्ति चाहिए, तृप्ति झेलने की उसमें सामर्थ्य नहीं। इसीसे तृप्ति-तृप्ति की भूख उसमें लपटें मारती रहती है। और अब यहाँ वह बहुत सर पटक चुका है। उसे रोज़ी के लिए कोई काम भी नहीं मिल सका है। वह असन्तुष्ट है। असन्तोष भीतरी है, इससे सब ओर फैल रहा है, और आस-पास जो हैं, उन सभी पर अपने फन पटकता है। ऐसे समय उसे चाहिए—नशा। ऐसे समय उसे चाहिए, थपकी नहीं, चोट। विहित, युक्त, गम्भीर, मीठा प्रेम नहीं; धुआँधार, उन्मत्त, चरपरा, चुटीला, सकटाक्ष, निषिद्ध प्रेम, जो डङ्क मार-मारकर उसे चेताए रखे।—नहीं तो वह जड़ होता जा रहा है!

ऐसी जगह, उषा की अरुणिमा सुन्दर नहीं है, पान की लाल लार से रँगे स्त्री-ओठ अधिक सुन्दर हैं। सौन्दर्य कहाँ नहीं है? सौन्दर्य परम-सत्य है, परम-सत्य की अभिन्न विभूति है, सत्य की भाँति सब ठौर व्यापा है। जिसकी जहाँ आँख है, वहाँ ही, वह उसे देख लेगा। इसी से अम्बर नील सुन्दर है, धूप झकझकाती धोली खिलती है; धरती हरी भाती है; रात तारों-टकी, श्यामल सुहाती है; प्रभात गुलाबी अच्छा लगता है।

तो, न कहो, उस घर में रहने वाली विधवा वह चम्पो, सुन्दर न थी। उमर ढल रही थी, और वह लाल पाड़ की धोती पहनती थी। और वह बड़े सलीके से रहना जानती थी। पान खाती थी, और तम्बाकू भी थोड़ा खा लेती थी। और बहुत मीठा बोलती थी, और बड़ी हँसमुख रहने वाली थी, और सब के दुःख-दर्द में शरीक होकर रहती थी।... वह वहाँ रहती थी, जहाँ सब को प्रसन्न रखा जा सकता है, और जहाँ दर्द से दूर, खुद प्रसन्न रहा जा सकता है।—और उसकी चितवन ऐसी थी कि बालक-वृद्ध कौन उस पर नहीं रीझ जाय ?

रुक्मिणी, अन्धी न थी। पर उसने सौन्दर्य को अपने सजाकर न रखा। हारती गई, और हार अपनाती गई,—पर यह न किया। अपना कुछ भी, अधिकार के साथ संरक्षण कर रखने की बुद्धि, चेष्टा, उसमें नहीं हुई, नहीं जागी। वह अपना सब-कुछ खो देने को तैयार होती जाने लगी। और चुपचाप एक-एक घड़ी काटकर उस दिन को जोहने-सी लगी, जब उससे कह दिया जाय—"निकल यहाँ से।"

आगे की उसने कोई बात सोची है, सो नहीं। पर बिना सोचे भी मौत आती है। और बिना सोच-विचार किये भी हम जानते हैं, मौत अपने वक्त आ ही जायगी। हमारी तरह दुविधा में रहने वाली मानवी वह नहीं है।

दीना एक रात देर से घर आया। घर में कुछ नहीं बना था, और वह कहीं बाहर कुछ खा-पी आया था। सीधा खाट पर आ गया। रुक्मिणी, नीचे फर्श पर बैठी थी।

एक-दो मिनट हो गये, और कोई बोला नहीं। दीना ने कहा, "क्यों, कुछ मुँह से बोल नहीं सकती ?"

रुक्मिणी ने कहा, "आज देर से आये।" जैसे बात कहने के लिए ही उसने यह कहा।

दीना—"हाँ, देर से आया।"—और तुम बैठी मुझे कोस रही हो।

रुक्मिणी—"नहीं..."

दीना—"गाँव में घर पर मुझे काम की कमी नहीं थी। और तुम जानती हो, यहाँ दिल्ली में किसके लिए आकर मरा हूँ।"

रुक्मिणी चुप।

कुछ ठहरकर दीना ने पूछा, "आज क्या बनाया है ?"

रुक्मिणी फिर चुप।

दीना, "क्यों, बोला नहीं जाता।—या, मैं अच्छा नहीं लगता !"

रुक्मिणी चुप रही। और दीना के भीतर आक्रोश उठकर उसे घोंटने लगा।

दीना—"मैं चला जाऊँ, तब तुझे चैन पड़े। इतनी रात गये लौटता हूँ, तब भी यह नहीं कि मुँह तो खोले, कुछ कहे।—कोई बकता है, तो बकता रहे। मैं जानता हूँ, तू मुझे नहीं चाहती। चाहती है, मैं मर जाऊँ।"

रुक्मिणी—"कुछ नहीं बना है।"

दीना ने चिल्लाकर कहा, "क्यों कुछ नहीं बना है ?"

"था नहीं—"

दीना ने और जोर से चिल्लाकर कहा, "था नहीं ! क्यों नहीं था ?"

रुक्मिणी चुप हो रही।

दीना ने बहुत जोर से चिल्लाकर कहा, "सुनती है कि लात से सुनाऊँ ?—कुछ क्यों नहीं था ?"

रुक्मिणी को लगा जैसे लात से सुनाया जायगा, तभी उसके लिए अधिक ठीक होगा। वह, सच, खूब पिटना चाहती है इस समय। जी के भीतर असह्य निराशा का उद्धत मुँह इसी भाँति कुचलकर कुछ देर नीचा रहे, तो तनिक चैन तो उसे मिले। वह कुछ नहीं बोली।

दीना ने फर्श पर पैर पटककर कहा, "तो नहीं सुनेगी तू—ऐं ?"

रुक्मिणी चुप बैठी रही।

पीढ़े पर बैठकर चम्पो ने कहा, "लाला, तुम रुकमनी से जोर से मत बोला करो। वह ऐसी सुशीला है। वह सहार नहीं सकती।"

रुक्मिणी ने धीरे से पूछा, "तुम्हारे कुछ खाने को बचा होगा ?"

चम्पो—"तो तुमने कुछ खाया नहीं, लाला ? पहले से क्यों नहीं कही ? और तुम भी ऐसे हो कि भूखे हो, सो उससे लड़ने को बैठते हो।"

दीना—"नहीं-नहीं, मैं भूखा नहीं हूँ।"—

चम्पो—"मुझे लाने में देर कितनी लगती है। और मैं कोई घिस नहीं जाऊँगी।"

दीना—"नहीं भाभी, तुम हैरान मत हो। मुझे भूख नहीं है।"

चम्पो चली गई, और रुक्मिणी बिस्तर ठीक करने से हटकर फ़र्श पर बैठ गई।

दीना ने कहा, "देखो, एक यह है कि कैसी बोलती है, और तुम"—

रुक्मिणी वही फ़र्श को देखने लगी।

अब दीना में क्रोध नहीं है। चम्पो-भाभी यहाँ हो गई है—अब वह उदार है, मीठा है।

दीना—"मैं तो खाऊँगा नहीं।—और तुम भी तो भूखी होगी। लो, यह मुझे पता ही न रहा कि तुम भी भूखी हो। तुम्हीं खाना।"

रुक्मिणी खा सकेगी ? न-न, वह नहीं खा सकेगी। वह चुप रही।

दीना—"देखो, तुमको ही खाना होगा। इन्कार न हो सकेगा। चम्पो नहीं तो फ़िज़ूल हैरान होगी।"

रुक्मिणी—"मुझे भूख नहीं है।"

दीना—"भूख नहीं है तो दूसरी बात है। पर, भूख होनी चाहिए। क्यों नहीं ?"

चम्पो (आकर)—"लो, लाला ! यही था, और ज्यादा तो था नहीं।"

दीना—"भाभी, तुमने यों ही हैरानी की।"

चम्पो—"तुम भूखे रहो, और मेरी हैरानी की गिनती हो। देखो, रुकमन कैसी सूख रही है। उससे ठीक रहा करो। ऐसी भाग से मिलती हैं, कैसी सुन्दर है, सुशील!... और, लो, मैं जाती हूँ, तुम दोनों के बीच में मैं न रहूँगी।—और खा-पीकर तुम आराम करना, लड़ना-लड़ाना मत।"

चम्पो चली गई, और दीना ने कहा, "रुकमनी, अब तुम यह खा लो। खा-पीकर फिर सो जाना है। सुना ?"

रुक्मिणी ने कहा, "अच्छा।" और उठकर उस खाने को लेकर बाहर चली गई। और दीना खाट पर लेट कर चम्पो भाभी को देखने लगा।

रुक्मिणी ने बाहर आकाश देखा, तारों से भरा था। और उसके नीचे जगत सोया था। सबकी आँखें नींद से और सपनों से भरी हैं, और उसकी आँखें—उसकी आँखें किसी से भी नहीं भरी हैं, बिलकुल सूनी हैं, रीती हैं, आँसुओं से भी नहीं भरी हैं। हाँ, उसके हाथ उस खाद्य से भरे हैं, जो ज़हर है, पर ज़हर होकर भी, मरने तक के लिए जिसे वह खा नहीं सकती। आधी रात में, तारों की असंख्य आँखों के नीचे, उस अखाद्य खाद्य को हाथों में लेकर खड़ी है कि वह उसे, उन दैदीप्य नक्षत्रों के साक्ष्य में, क्या करे ?—

और वह जानती है, भीतर कमरे में है एक दीना, जिसको लेकर वह कहीं से टूट कर आज यहाँ खड़ी है। वह, दीना, अवश्य निश्चिन्त पड़ा हुआ है कि वह जल्दी लौटती है, या कब लौटती है, या लौटती भी है या नहीं—

वह खाद्य को अवज्ञा के साथ मोरी में नहीं फेंक सकी, जैसा कि वह चाहती थी। उसने उसे बाहर, खुली छत पर खुला छोड़ दिया।

और, आई कि दीना सो चुका था।

ऐसे दिन बीते कि जल्दी वह दिन आ गया, जब कहने की आवश्यकता ही जड़-मूल से नष्ट हो गई कि 'तू निकल जा।' उसने पाया कि

वह वहां अकेली है, दीना नहीं है, चम्पो भी नहीं है, जाने कहां चले गये हैं। और वह बे-पैसा है, और पिछले चार महीनों का मकान का किराया उससे ही लिया जाने वाला है।

: ५ :

तब बड़ी शीघ्रता से परमात्मा ने उसे बुढ़िया बना दिया। और किसी को चालीस बरस लगते, रुक्मिणी का आधे काल में यह सब काम निबट गया, और वह रुकिया बन गई।

किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि वह रुकिया है, रुक्मिणी स्मृति द्वारा भी नहीं है। स्मृति से छुट्टी लेकर वह बैठी है। स्मरण करे, इससे अच्छा नकदानकद बालकों को क्यों न कोस कर वह अपना काम चला ले, और उनमें ही क्यों न पूरी तरह मग्न हो ले।

पुनर्जन्म भी तो लोग मानते हैं। किन्तु तब के नातों को कोई याद नहीं रखता। तब की बातों को हम सब छुट्टी दे चुके होते हैं। तब हम यह थे, इसका दम्भ हमें नहीं फुलाता; यह न थे, इसका दुःख भी हमें नहीं सताता। उस सब घटित अतीत से अपने को सर्वथा तोड़ कर नये जन्म में हम जीते हैं। नहीं तो अपने अनन्त इतिहास का बोझ अपने माथे पै लेकर हम जी सकते हैं ? हमारा ज्ञान संकुचित है, यही हमारा वरदान है। हम परिमित हैं, यही हमारा धन्य भाग्य है।

रुकिया को रुक्मिणी के साथ मत जोड़ो। न-न, वह सपने में भी भूल कर अपने को उन दिनों से नहीं जोड़ती। वे उसके भीतर कहीं कायम ही नहीं हैं, नहीं, बिलकुल नहीं हैं।

इसी से वह कहती है, "भगवान्, सबका भला करे। दुनिया के लिए उसमें कड़वाहट नहीं है।"

पर ये बालक ! ये कोई दुनिया के हैं, जाने किस लोक के जीव हैं ये !—शरारती, दंगई, सब-के-सब। और वह कहती है, "हे राम, तू इन्हें सबको मेरे सिर पै से कब उठायेगा ?"

दर्शन की राह

जिनकी यह बात कहता हूँ उनका नाम आप न जानते हों, यह कम सम्भव है। यह भी आप जानते ही होंगे कि उनका एक ही उपदेश है कि मौत को सामने लो। स्थान-स्थान पर इस आदेश की घोषणा के अतिरिक्त मानो उनके लिए और कुछ नहीं है।

मृत्यु कोई प्रिय वस्तु नहीं है, पर उनके अन्दर चाव है। वह क्या ? वही एक दिन मैं पूछ बैठा। (मुझ पर उनकी कृपा है और स्नेह है।) पूछा, "क्या मौत को चाहना होगा ?"

बोले, "नहीं। पर उद्यत तो रहना ही होगा। स्वेच्छित मृत्यु मुक्ति है। मृत्यु का चित्र हमें सदा प्रत्यक्ष रहे तो क्षुद्रता में हम न गिरें।"

जैसे उस विषय पर उनका मन सदा भरा रहता है। हल्की-सी कोई छेड़ मिलनी चाहिए। फिर तो वह फूट ही चलते हैं।

मैंने कहा कि मृत्यु का दबाव हमारे मन पर हर घड़ी बना रहे तो क्या इससे उस मन के विद्रोही हो पड़ने की आशङ्का भी न हो जायगी ? मैं तब सोच सकता हूँ कि आगे मौत ही तो है ही, फिर क्या तो विवेक और क्या अविवेक ? मन का अंकुश इससे ढीला भी तो हो सकता है न ?

खिन्न-भाव से वह बोले कि, "हाँ हो भी सकता है। पर मुझे उससे

लाभ हुआ है। जो न झेल सके उसे उस दर्शन से बचना चाहिए। लेकिन सच्ची शक्ति सदा झेलती है। मौत से आँख बचावे तो लगायें कहाँ ? अन्त में निषेध ही सत्य है। ईश्वर नेति है। ड्राइँग-रूम की सजावट को अपने चारों तरफ लपेटकर कोई आश्वस्त नहीं रह सका। जो आवरण और परिधान हमने खड़े किये है उन सबको पाकर मृत्यु हर समय हमारे तन को छूये रहती है। सो ही हमारा जीवन है। जगत् मृत्यु के वरदान पर मुखर है। वर्तमान का हर पल चुककर भूत होता जा रहा है ! कहाँ जाकर तुम आँख मींचोगे ? तुम तुम्हीं नहीं हो। तुम बाप हो, भाई हो, पुत्र हो, पति हो। सम्बन्धियों के बीच तुम्हारी सम्भावना है। वे सम्बन्ध सम्बन्ध न बनें, इससे वे जुड़ेंगे और टूटेंगे। तुम समर्थ होओ, इस हेतु में तुम्हारे माँ-बाप मरेंगे। शावक उड़े, इसके लिए खोल को टूटना होगा। बीज मरकर वृक्ष उगायगा। हमें जन्म देकर माता-पिता मृत्यु की तरफ बढ़े—हम जन्म स्वीकार करके इसे उचित मानते हैं। इसी में मृत्यु की प्रतिष्ठा है। जीवन प्रपञ्च है और भूल है, यदि उसकी मृत्युपूर्वकता का भान हमें नहीं है। मृत्युपूर्वक वही सुख-दान है।... मैंने यह शुरू में नहीं समझा। मौत अपनी नग्न सज्जा में मुझ तक आई। वह आई थी मुझे विशद करने, पर मैं संकुचा। मैं सिमटा और उसे टाला। उस सम्पद को विपद मान डर के मारे मैं चिपट बैठा उससे जो प्राप्त था। इसी में वह प्राप्त मुझ से विमुख होकर खो गया। मृत्यु के द्वार से ही प्राप्य प्राप्त है। अन्यथा, प्राप्त मात्र प्रवञ्चना है। आज उस अनन्त के द्वार से मैं देखता हूँ तभी सत्य प्रतीत होता है। नहीं तो सब माया है। इसी से कहता हूँ कि मृत्यु द्वार को जीवन-यात्रा में सदा सम्मुख रखो। तब सब तुम्हारे लिए सत्य है, शिव है, सुन्दर है। नहीं तो......।"

मैंने देखा कि कहते-कहते वह कहीं और पहुँच गये हैं। अन्त में सहसा ठिठक कर वह मुस्कराये—करुण मुस्कराहट। मानो अपने लिए भी उनके पास करुणा ही है।

मैं उन्हें देखता रह गया।

बोले, "क्या देखते हो ? सुनना चाहते हो ?"

मैं और क्या चाहता था ?

बोले—

: १ :

विवाह के शीघ्र ही बाद पत्नी मैके चली गयी। तुम्हारे यहाँ भी गौने का तो रिवाज है न ? विवाह के कुछ काल का अन्तर डाल कर द्विरागमन होता है। सो विवाह के अवसर पर तो मानो खुलकर भेंट भी न हो सकी। भली-भाँति तब मैं उन्हें देख भी पाया, इसमें सन्देह है। मंगलाचार की ऐसी कुछ धूम-धाम रही। बहनें थीं और पड़ोस की भाभियाँ थीं। उनके कारण बहू की इतनी पूछ-ताछ हुई कि वर की याद ही न रखी गई। और गिनती के ये तीन-चार रोज बीतते-न-बीतते ससुराल से उनके भाई लिवाने आ गये। वह चली गयीं।

उस काल में अकेला था। अकेले यानी केन्द्र-हीन। मन में बहुत-बहुत आकांक्षाएँ थीं। आकांक्षाएँ किशोर। जी उमगा आता था। मानो भीतर से एक वैभव उछाह में हिलोर लेता, फुहार में फूट कर किसी के आगे झर पड़ना चाहता था।

पर किसके आगे ? अपने भीतर की भावना की विपुलता को किसके समक्ष लाकर लुटा दूँ। और अपने को धन्य करूँ, यह समझ में न आता था। माता से अनायास दूर पड़ता जाता था। अपने को अब शावक नहीं बल्कि समर्थ पाना प्रिय लगता था। जी होता था—पर क्या जी होता था ? जैसे किसी को आश्रय में लूँ और अपने भुज-दण्ड के बल पर समूचे विश्व के विरोध में उसकी रक्षा करूँ। जो मेरे द्वारा रक्षणीय हो और प्रार्थनीय भी हो। मुझ से निर्बल, पर स्वामिमी। जिसके आगे में अपना समूचा बल और समूची प्रभुता अर्घ्य की भाँति विसर्जित करके सार्थक करूँ।

पर वह ऐसा कौन ?

मैं द्विरागमन के लिए रेल में बैठा जा रहा था और मन में देख रहा था, मेरी पूजा की वह वेदी अब अधिक काल अनभिषिक्त न रहेगी। उस के अभिषेक का अवसर आ पहुँचा है। स्वप्न उमड़-उमड़ कर आते थे आँसू की भाँति उस वेदी को धो जाते थे।

आखिर दिन आया। छोटी रेल, छोटा स्टेशन, सेकिण्ड क्लास के रिजर्व डिब्बे के एक कोने में घूँघट के भीतर वह बैठी थीं और खिड़की पर होकर प्लेटफ़ार्म पर खड़े उनके भ्रातृ-जनों को मैं प्रणाम कर रहा था।

गाड़ी चल दी। प्लेटफ़ार्म धीमे-धीमे पार हो गया। मैं हठात् खिड़की पर खड़ा रहा। मुझे डर लग रहा था, खिड़की से हटकर कम्पार्टमेन्ट के अन्दर जाकर बैठना मुझ से कैसे बनेगा ?

खिड़की पर मैं खड़ा ही रहा, खड़ा ही रहा। बस्ती के मकान निकले, बाग निकले, अब खेत आ गये। आखिर मैं खिड़की से हटा।

घूँघट कम हो गया था। साड़ी की कोर माथे तक थी। रूप पर आपने तो कवियों की कविता पढ़ी है, वैसा ही कुछ समझिये। उन्होंने मेरी ओर देखा। उन आँखों में क्या था ?

मैंने बढ़कर कहा, "जरा उठो, बिस्तर बिछा

वह बोलीं नहीं।

"बिस्तर से आराम रहेगा।"

फिर भी वह नहीं बोलीं। कुछ पूछती-सी आँखों से मुझे देखती रहीं।

"उठो न ज़रा।"

"ठीक तो है। मुझे नहीं चाहिए।"

पर [इतने में तो मैंने ऊपर से बिस्तर उतार लिया था। मैं उसे खोलने लगा।

सहसा उठकर उन्होंने मेरे हाथ को वहाँ से अलग कर दिया। बोलीं, मैं यह सब कर लूँगी। तुम बैठो।"

मैंने कहा, "मैं बिछा तो दे रहा हूँ। तुम रहो न ।"

पर मेरा पौरुष न चला। उन्होंने नहीं माना, नहीं माना।

बिस्तर बिछा दिया और बोलीं, "बैठो ।"

मैंने कहा, "मैं तो उधर दूसरी तरफ बैठ जाऊँगा । तुम आराम से लेट सकती हो ।"

"उधर मैं बैठी जाती हूँ ।" कहकर वह दूसरी बेंच पर जाने को उद्यत हुईं।

उस समय मैं हार न मान सका। उनको हाथ से पकड़कर बैठाते हुए मैंने कहा, "यह क्या बैठो भी ।"

बैठ तो गईं, लेकिन बैठते-बैठते उन्होंने जोर से मेरे कोट का छोर पकड़ लिया। कहा, "तुम भी बैठो ।"

लाचार मैं पास बैठ गया। बैठ तो गया लेकिन अब ? उस समय शब्द क्षुद्र हो गये और भाषा ने मौन का आश्रय लिया। कुछ क्षण आँखों-ही-आँखों में रह गये। उस दर्शन में अमित भाव था। दो व्यक्तियों के बीच की अथाह दूरी आँखों की राह मानों पल में पार हो गई। अब क्या शेष था !

......मालूम हुआ वेदी का अभिषेक सम्पन्न हो गया। स्वप्न अब उड़ने की आवश्यकता में नहीं हैं। वे सब पँक्ति बाँध टप-टप टपक पड़ने को उद्यत हैं कि किसी के चरणों को छू सकें। उनकी स्पर्धा भक्ति में अब सार्थक हो आई है। वायव्य से अब तरल बनकर मानो स्वप्न स्वयं अपने को पाते जा रहे हैं।

मैंने कहा, "सुधा सो जाओ ।"

"मैं ? मैं तो ठीक हूँ। लो, तुम लेट जाओ ।"

कहने के साथ ही वह पीछे सरक गई, ऐसे कि मैं लेट सकता हूँ और हाँ, कोई बात नहीं जो सिर गोद में आ जाय। नहीं, नहीं, उसमें कोई हरज नहीं है।

मुझे बैठा-का-बैठा देख बोली, "लेट न जाओ। अभी बहुत सफर करना है।"

मैंने हँसकर कहा, "सफर मुझे ही करना है। तुम्हें तो कुछ करना-धरना है ही नहीं।"

बोली, "मेरा क्या है, पर तुम लेटकर थोड़ी नींद ले सको तो अच्छा है।"

मैं अबोध, मुझे कुछ नहीं सूझा। और देखता क्या हूँ कि मैं लेट गया हूँ और मेरा सिर उन्होंने आराम से गोद में ले लिया है।

हठात् मैंने आँखें मींच लीं। चाहा कि सोऊँ, पर नहीं कह सकता कि मैं सो सका। फिर भी आँख मेरी मुँदी रही और मैं जागते सपने लेने लगा।

...पर यह क्या ? झटका कैसा ? गाड़ी एकदम रुकी क्यों ? सिगनल न हुआ होगा। लेकिन नहीं कुछ और बात है।

मैं उठा। उठ कर झाँका। देखता हूँ कि लोग उतर रहे हैं और एक तरफ बढ़े जा रहे हैं। जिधर जा रहे हैं वहाँ चार-पाँच आदमियों का झुण्ड-सा खड़ा है। बात क्या है।

जाते आदमियों से मैं पूछने लगा, "भाई क्या बात है ?"

पहला आदमी तो बिना बोले तेजी से आगे बढ़ गया।

फिर दूसरे से पूछा, "क्यों भई, क्या है ?"

"क्या मालूम ?"

तीसरे से, "क्यों भई, है क्या ?"

"रेल के नीचे कोई आ गया सुनते हैं।"

ओः, यह है ! मैं अपनी जगह आ बैठा। चलो, होगा कुछ। यह तो रोज की बात है। पर रेल यहाँ देर कितनी लगायेगी ? चलती क्यों नहीं ? मुझे बुरा मालूम होने लगा कि गाड़ी इतनी मुद्दत ठहरी क्यों है ?

सुधा ने पूछा, "क्यों क्या हुआ ?"

जैसे हठात् अपने सिर से कुछ टालते हुए मैंने कहा, "होगा कुछ, तुम्हारी छोटी लाईन है, जो न हो थोड़ा है।"

जवाब देकर मैंने चाहा कि गाड़ी चल पड़े और मैं इधर-उधर की कोई बात सोचने को खाली न रह जाऊँ।

इतने में सुधा खिड़की से बाहर होकर झाँकने लगी। बोली, "सब लोग जा रहे हैं। जाकर देखो तो क्या है।"

मैंने अपने विरुद्ध होकर कहा कि "होगा कुछ, छोड़ो भी।"

सुधा इस पर कुछ न बोली और बाहर की ओर ही देखती रही।

मैं डिब्बे के अन्दर लगे हुए रेल के नक्शों को आँख बाँध कर देखने लगा। जैसे मुझे मन को किसी भी दूसरी तरफ नहीं जाने देना है।

"अरे, उसे उठाके लाओ न।"—यह कुछ ऐसी बानी में कहा गया कि मैं चौंके बिना न रहा। सुनकर मैं खिड़की पर पहुँचा और बाहर देखने लगा। कई आदमी एंजिन की तरफ से हमारी तरफ एक आदमी को उठाये हुए आ रहे थे। वे पास आये, कि सुधा ने अपने मुँह को हाथों से ढँक लिया और बेंच पर औंधे मुँह पड़ गयी। जो देखा वह दृश्य उसे असह्य हुआ। मेरी तो आँखें उस पर गड़ रहीं।

साठ से ऊपर उमर होगी। देह से क्षीण। आँखें खुली थीं। साँस तेजी से आ-जा रहा था। वह इधर-उधर भौचक्का-सा देख रहा था। उसकी एक टाँग जाँघ के पास से कटकर बिलकुल अलग हो गयी थी। वहाँ से गोश्त के छिछड़े लटक रहे थे और खून बह रहा था। कटी टाँग को एक आदमी अलग हाथ में उठाये हुए आ रहा था।

वह बुड्ढा उस अपनी कटी टाँग की तरफ देखता और फिर अपने को ले जाते हुए उन आदमियों की तरफ देखता। जैसे उसकी कुछ समझ में नहीं आ रहा था। मेरे सामने से वे उस आदमी को ले गये। उतर

कर में भी उसके साथ हो गया। पीछे मालगाड़ी का डब्बा था, उसको खोला गया।

गार्ड ने कहा, "जल्दी करो जल्दी, गाड़ी लेट है।"

लोगों ने झुलाकर बुड्ढे की लोथ को डब्बे तक पहुँचाया। बुड्ढा अभी जीता था। दर्द के मारे वह कराहा और चीखा।

"जल्दी करो, जल्दी। अरे उसको पीछे की तरफ धकेलो और पीछे। गाड़ी लेट है।"

उस शरीर में मानो इच्छाशक्ति नहीं रह गयी थी। सिर जिधर होता उधर ही लटका रह जाता था। खैर, धकेल कर उसे ज्यों-त्यों पीछे किया गया।

"बन्द करो, दरवाजा बन्द करो।"

लोग मालगाड़ी के डब्बे के लोहे के दरवाजे बन्द करने लगे।

"ओह, तू यहाँ खड़ा है ! यह टाँग उसके साथ नहीं रखी ? टाँग भी उसमें रखो।"

दरवाजा फिर खुला और वह टाँग बुड्ढे के पास फेंक दी गयी। वह कटी टाँग बुड्ढे के सिर के पास जाकर लेट गयी।

लहू से कपड़े और डब्बे का फर्श लाल हो गये थे। पर बुड्ढे की जान निकली न थी। वह अब कराह नहीं रहा था, न चीखता था। वह मानो अचरज से हम जीते हुओं को देख रहा था। और उसी भाव से अपने ऊपर बन्द होते हुए लोहे के दरवाजे को वह देखता रहा।

आसपास जमा हुए लोगों को गार्ड ने कहा, "क्या यह तमाशा है ? चलो चलो, गाड़ी लेट है।"

कहकर वहीं से उसने गाड़ी चलने की सीटी दी।

मैं अपने डब्बे में आ गया। बुड्ढा मालगाड़ी के ढकने में उचित ढंग से बन्द हो गया था। ऊपर ताला जड़ गया था। गाड़ी लेट पहले से थी, अब वह चल दी।

स्टेशन आने पर कुली बुलाया गया, ताला खोला गया, माल के डब्बे से बुड्ढे को खींचकर उतारा गया, एक आदमी साथ टूटी टाँग लेकर चला। और बुड्ढा अब तक बराबर जीता था, और देख रहा था······।

फिर डब्बा धुल गया। सफाई हो गयी। दाग कहीं नहीं छोड़ा गया। हुई बात बीती और गाड़ी स्टेशन से चल दी।

उस समय मैंने क्या किया ? सुध खोई रही तब तक खोई रही, अन्त में सुध पाकर वह सब बिसार देने की मैंने कोशिश की। मेरे पास सुधा थी, दूसरे दर्जे का रिजर्व डब्बा था। फिर मैं उस टाँग कटा लेने वाले बेहया बुड्ढे की याद पर किस भाँति क्षण-भर भी रुक सकता था ? अनिष्ट को भूल, इष्ट को ही मैंने याद रखा और उसी ओर मुँह फेर कर कहा, "सुधा······"

लेकिन क्या तुम समझते हो कि ऐसे सहज बचना हो सकता है ? हम अपने में बन्द नहीं हो सकते। जगत्-घटना से बचकर कोई कहाँ जायगा ? और भोग से अधिक सत्य है मृत्यु। भोग में होकर क्या मृत्यु को भुलाया जा जकता है ? जीता जा सकता है ? पर मैंने वही चाहा और वही किया—

जगत्-सत्य से आँख मींच लेनी चाही और हाथ के सुख को चिपटकर पकड़ लेना चाहा। लेकिन क्या हुआ ? देखा, तो हाथ खाली था। उसकी पकड़ में कुछ न आया था। और जिसे बचाया था वही आग का शोला बनकर सदा के लिए आँख में समा गया। वह एक चेतावनी थी जो मुझे सदा को चेता गयी। मेरा सब चला गया। सब उजड़ गया। लेकिन एक सीख मिल गयी।

: २ :

अरे भाई, सब तुम्हें क्या सुनाऊँ ? छोड़ो-छोड़ो, उसमें कोई खास बात नहीं है।

घर की स्थिति बुरी न थी और मैं जवान था। सो रंग-राग में मैंने अपने को डुबा दिया। लेकिन आदमी क्या अपने को सचमुच डुबा तक सकता है? ऊपर जो तारनहार है। वह सहायक हो तो डूबता भी तिर आता है।

सुधा जाने क्या चाहती थी? अनुपम सौन्दर्य पाकर मन उसने फिर ऐसा तरंगहीन क्यों पाया था? मैंने अपनी सारी आकांक्षाएँ उस पर वार दीं। पर जैसे वह मुझे राम के आदर्श में रखकर देखना चाहती थी। उसका अपना मन सीताजी में था। उसके संस्कार मुझे पतिरूप में स्वीकार करते थे। पति तो देवता ही है। पर जैसे मैं स्वयं में होकर उसकी निगाह से ओछा ही रह जाता था। मेरे समर्पण में उसे राग न था। मालूम होता था कि जैसे वह मुझे कुछ अन्य देखना चाहती है। मानो मुझे देवता पाना चाहती है। इसी से मुझे कभी अनुभव नहीं हुआ कि मैं उसे पा सका हूँ।

जगत् के बहुमूल्य उपहारों को दिखा कर मैंने कहा, "सुधा लोगी?"

मानो सुधा कहती, "मै दासी हूँ। जो स्वामी की इच्छा।"

मैं कहता, "तुम यह क्यों नहीं जानतीं कि तुमने अप्सरा का सौन्दर्य पाया है, सुधा?"

मानो सुधा कहती, "मेरा काम सेवा है, मुझे लजाओ मत।"

मैंने चाहा कि उसमें अनुराग हो, लेकिन उसमें विराग ही आता चला गया। और मेरी आँखों ने देखा कि उस निस्पृह भाव के संयोग से उसके सौन्दर्य में कुछ ऐसी भव्य शोभा आती चली गई कि मैं अपने तईं हीन लगने लगा। हीरा-मोती के आभरणों से साग्रह सजा कर मैं उसे देख सकता तो वह मुझे पास भी जान पड़ती, जैसे वह सौन्दर्य प्राप्य भी हो। लेकिन नीची आँख से काम करती हुई सफेद धोती में जब मैं उसे देखता—और यही उसकी रुचि की वेष-भूषा थी—तब मैं मन में सहम कर रह जाता था। अलंकार-आभरण से विहीन उसका शुचि-सौन्दर्य

मुझे ऐसा बिरल जान पड़ता कि अप्राप्य। इच्छा होती कि सदा वह रंग-बिरंग साड़ियाँ पहने रहे कि मुझे ढारस तो हो कि वह हम सबके निकट है। नहीं तो वह दूर, दूर, दूर कहाँ चली जा रही है कि ज्ञात नहीं ! मालूम होता था कि जिस धरती पर मैं हूँ उससे वह उड़ती जा रही है। अरे, कहीं एकदम ही उड़ न जाय ! तब मेरा क्या हाल होगा ?

सुधा ने एक रोज कहा, "तुम मुझे इतना प्रेम क्यों करते हो ? शरीर तो नाशवान है।"

मैंने कहा, "नाशवान कुछ नहीं है। वह शब्द मुँह से न निकालना।"

बोली, "उस बुड्ढे को भूल गये ? सब की काया में वही है। माँस है, रुधिर है, वहाँ कोई सौन्दर्य नहीं है।"

मैंने कहा, "सुधा, तुम ऐसी बातें न किया करो। वे क्या तुम्हारे मुँह के लायक हैं ?"

कुछ रुक कर वह बोली, "तुम्हें फिर अपने काम धन्धे का क्यों ख्याल नहीं है ? माँ कितनी चिंतित रहती हैं, जानते हो ?"

सुनकर मैं उसकी तरफ देखता रहा। जतलाया कि जानता हूँ।

"क्या देखते हो ? मेरी ही वजह से तुम घर को चौपट किए दे रहे हो न ?"

"हाँ"—मुस्कराता हुआ मैं उसे देखता रह गया।

सुधा गुस्से में बोली, "तुम हँस सकते हो। पर तुम्हारी हँसी मेरे लिए क्या फल लाती है, यह क्या तुम अब तक नहीं जान पाये हो ?"

मैंने कहा, "सच सुनना चाहती हो सुधा ? तो सुनो; पैसा जब तक सब न चला जायगा मैं सीधी राह पर न आऊँगा। पैसे की राह टेढ़ी है। पैसा है तो मैं सीधे कैसे चल सकता हूँ, तुम्हीं कहो ?"

सुधा ने गौर से मेरी ओर देखकर कहा, "यह क्या कह रहे हो ?"

मैंने कहा, "सुधा, सब भूल जाओ। कर्तव्य को क्यों याद करती हो, जब तक सुख सामने है ? मुझे कर्तव्य की याद न दिलाओ। मुझे कष्ट

मत दो। सुधा, मेरी सहायता क्यों नहीं करती हो ? आओ, मुझे सब भूलने में मदद दो।"

सुधा ने कहा, "यह तुम्हें क्या हो गया है ?"

मैंने कहा, 'सुधा, मैं शरीर के भीतर की बात नहीं देखना चाहता। भीतर आत्मा है, यह जानने तक भी नहीं ठहरना चाहता। क्योंकि भीतर आत्मा तो पीछे होगी, पहले तो हाड़, माँस और रुधिर है। उस बुड्ढे को हमने देखा तो था। इससे उस शरीर से इन्द्रिय द्वारा प्राप्त होने वाले लावण्य तक ही हम बस करके क्यों न रहें ? इसी से सुधा, मैं चाहता हूँ कि तुम कर्तव्य का ध्यान चाहे छोड़ दो लेकिन अपने प के ऐश्वर्य को समझने लग जाओ। तुम रूपगर्विणी बनो न। ऐसी बनोगी तो मुझे भी अपने विजय गर्व का सुख लाभ होगा।"

सुधा मेरी बातों को सुनती रही, बोली, "ऐसे कब तक चलेगा ?"

मैंने कहा, "जब तक भी चल सके तभी तक बहुत है।"

सच यह है कि सुधा के विषय में मुझे इधर ढारस कम होता जा रहा था। वह देवदुर्लभ-सी बनती जाती थी, जाने आगे क्या हो ? जब तक किंचित भी उसमें मानवीय है तब तक अपने ही हाथों अपना सौभाग्य मैं क्यों कम करूँ ? यह भी मुझे प्रतीत होता था कि मेरे इस मोह के कारण सुधा में मेरे प्रति अनुरक्ति बढ़ती नहीं है। उत्तरोत्तर ऐसा लगता था कि मानो वह अब छूटी, अब छूटी। मानो अपने मोह के कारण ही उसके मन से मैं उतरता जाता था और वह जैसे उसी के जोर से निर्मोह की ओर बढ़ती जाती थी।

परिणाम यह हुआ कि परिवार का काम-धन्धा डूबने पर आ गया। सुधा ने मुझे बहुत चेताया। कहा, "माँ क्या कहती हैं, जानते हो ? कहती हैं कि मैं चुड़ैल हूँ, जिसने तुम पर जादू किया। तुम आँख खोल कर देखते क्यों नहीं हो कि इस घर में मेरा जीना दूभर हो रहा है ? मैं रोज भगवान् से तुम्हारे लिए प्रार्थना करती हूँ।"

"क्या प्रार्थना करती हो ?"

"कि तुम्हें सुबुद्धि दें।"

"और दुर्बुद्धि-वाले मुझको तुम प्रेम नहीं कर सकतीं, यह भी न ?"

"यह तुम्हें क्या हो गया है ? मैं नहीं तो किसे प्रेम करती हूँ ?"

"शायद भगवान् को प्रेम करती हो। सुनो सुधा, अगर मुझ में विश्वास रखकर मुझे तुम तनिक भी प्रेम कर सको तो हो सकता है कि मैं एकदम गया-बीता प्राणी न भी निकलूँ।"

लेकिन इस बात को सुधा जैसे समझ नहीं पाती थी। कहती, "यही तो तुम्हारा रोग है। तुम मुझे भूल क्यों नहीं जाते हो ? देखती हूँ, मैं ही तुम्हारा सत्यानाश कर रही हूँ। मैं सत्यानासिन यहाँ से उठ जाऊँ तो भला हो।"

मैं समझाता। कहता कि सुधा, यह क्या कहती हो ? तुम समझती क्यों नहीं हो ? तुमको क्या नहीं मिला है ? फिर तुम ऐसी क्यों होती हो ?

बोली, "जिसका पति निकम्मा हो उसको यहाँ क्या सुख हो सकता है, बताओ तो।"

मैंने कहा कि तब तो दुःख मुझ निकम्मे आदमी का हक है। तुम दुःख क्यों उठाती हो ?

सुधा ने कहा कि तुम जानते हो कि तुम पढ़े-लिखे और विद्वान् हो। लोग जाने क्या क्या आशा तुम से रखते हैं। और तुम को बस प्रेम की बातें हैं। शर्म के मारे किसी को मुँह दिखाने लायक भी तो नहीं रह गयी हूँ।

मैंने कहा कि सुधा, बता सकती हो, कि मैं किसके लिए निकम्मे के सिवा कुछ और बनूँ ?

सुधा मेरी ओर देखती रह गयी। अनन्तर बोली, "फिर तुम ऐसी ही बात करने लगे ? तुम क्यों नहीं जानते कि मुझ पर क्या बीतती है।"

मैंने उस समय चाहा कि कहूँ कि तुम किसी भी और तरफ की बात न सोचो, सुधा। मैं तो हूँ और मेरा सब प्रेम तुम्हारा है। लेकिन मैं कुछ कह नहीं सका।

सुधा अन्त में मुँह फेर कर यह कहती हुई चली गयी कि मेरी जान चाहते हो तो कारोबार को कुछ देखो-भालो।

लेकिन मेरे मन में कारोबार नहीं था। मेरे मन में हुआ कि सपने क्या झूठ होते हैं, और कारोबार सच? नहीं, ऐसा मैं अब भी नहीं मानता। अपने सपने को हम जिला सकें इससे अधिक हमारे लिए कोई काम महत्व का नहीं है। मैं अपने सपनों को कैसे गँवा देता? लेकिन सुधा नहीं, तो सपना क्या? केन्द्र ही नहीं, तो परिधि का विस्तार क्या? इस से जब मैं देखता कि सुधा मुझ से दूर होती जा रही है और उसकी ओर से अश्रद्धा ही मुझ तक पहुँचती है, तो मेरी सारी क्षमता और सब उत्साह अवसाद में मुरझा कर रह जाता। अपने में मेरी निष्ठा न रह जाती। सोचता कि जाने दो कारोबार को चूल्हे में। जब मैं स्वयं नहीं हो सकता हूँ तो कारोबार होकर क्या होगा?

माँ ने चेताया। मित्र ने समझाया। लेकिन उसमें समझने की बात मेरे लिए क्या थी? आँखें तो मुझ में भी थीं। देखता था कि सब गड्ढे में जा रहा है लेकिन मुझ में तो गड्ढे से बचने या बचाने की इच्छा ही नहीं रह गयी थी। सब कहते थे कि तुम्हें यह हो क्या गया है?

मैं उचट कर कहता कि मेरी समझ में नहीं आता कि मैं क्यों जी रहा हूँ? मैं बड़ी आसानी से मर सकता हूँ। और आप लोग वही चाहते हो, तो यही हो जायगा। नहीं तो मुझे क्यों कुछ सुझाते हो। जगते को तो जगाया नहीं जा सकता।

आज उस अवस्था को मैं पूरी तरह याद नहीं कर सकता हूँ।

निश्चेष्टता मुझे प्रिय हो चली थी। और जैसे-जैसे निवृत्तिभाव बढ़ता था वैसे ही सुधा की आँखों में मैं दया-पात्र होता जाता था।

एक रोज की बात—कि मैं सुनाता हूँ कि अपनी उपासना की कोठरी में अकेली बैठकर, आँख मूँदे सुधा प्रार्थना कर रही है। कह रही है कि हे भगवन्, मेरे पति को सुबुद्धि दो। नहीं तो मुझे बल दो कि उनकी राह से मैं हट जाऊँ? मुझे लेकर वह तुमको भूल रहे हैं और कर्तव्य को भूल रहे हैं। उन्हें जगाओ, नहीं तो मुझे उठा लो।

: ३ :

नहीं, और मैं अब नहीं कहूँगा। है अब क्या कहने को? मेरा मन जैसे जड़ हो गया। उसके बाद मुझ से सुधा की ओर आँख उठाकर देखा नहीं गया। मैंने सोच लिया कि अब वक्त आ गया है कि मैं किनारा ले जाऊँ। ऐसे निष्फल तिरस्कृत जीवन से किसका क्या लाभ? मैं भी उसे क्यों ढोऊँ?

लेकिन वह हो न पाया। एक-एक कर पाँच-छः दिन और बीते। दिवाला सिर पर आ टूटनेवाला हो गया। पल बिताना तपस्या थी। हर पल माथे पर टूटता पहाड़ दीखता। पूर्वजों की संचित इज्जत धूल में मिलने की घड़ी आ पहुँची। पर मैंने कहा कि हो, जो होना है हो। मुझे उसमें क्या करना है।

पर यदि मैंने कुछ नहीं किया तो सुधा ने ही कुछ किया! बहादुरी उसे मैं नहीं कहूँगा। धर्म भी मैं नहीं कहूँगा। पर जो उससे बना, किया। वह गयी, और रेल के नीचे जाकर कट गयी।.......

......कटने के साथ वह साँस लेने को भी बाकी न रही। टांगों पर से वह नहीं कटी थी। सिर ही कुचल गया था। और इस प्रकार अंग-भंग हुआ था कि याद करते......

लेकिन छोड़ो उस बात को। कहानी थी सो हो गयी। तुम कहोगे कि क्या हुआ। मैं कहूँगा कि मेरी आँख खुल गयी।

तब से मैं मृत्यु का कृतज्ञ होना सीख गया। सुधा तो फिर मुझ से दूर हो ही नहीं सकी। वह सदा को मेरे साथ एक हो गयी। अब मैं अनुभव करता हूँ कि मृत्यु के द्वार में से ही सत्य को प्राप्त करना होगा। सुधा ने मुझे प्राप्ति की वह राह दिखायी।

तो लाये ?

दफ्तर जाता हूँ तो सामने के घर के चबूतरे पर एक खटिया पड़ी रहती है। प्राता हूँ तब भी वह खाट वहीं ही मिलती है। वह दिन-रात वहीं रहती है।

उस पर के प्रादमी की तरफ मेरा ज्यादा ध्यान नहीं है। सिवाय इसके कि वह खाँसता बहुत है और इस वजह से आस-पास काफी गन्दगी रहती है। खैर, मैं ऊपर से उतर सीधा दफ्तर चला जाता हूँ और शाम को ज़ीना खोलकर ऊपर घर आजाता हूँ।

घर में से मालूम हुआ कि इस नीचे पड़े आदमी की घर वाले बड़ी बेकदरी करते हैं। और तो और ऊपर से डाँटते-डपटते भी रहते हैं। हो तो उनसे एक बार जरा कहकर देखो न ?

मैंने कहा, "कहने से तो वृथा गाँठ पड़ेगी, लाभ कुछ होगा नहीं, और मैं नया अनजान आदमी हूँ।"

वह बोली, "रोगी को मरना तो है ही, पर क्या ऐसे जान-बूझकर मारा जाता है। ले के निकाल पटका है बाहर ! और गन्दगी भी तो इससे फैलती है। मैं तो दिन-रात खों-खों से परेशान रहती हूँ। क्यों जी ! कुछ किया नहीं जा सकता ?"

मैंने कहा, "इसके सिवा कि हम अपने घर में जगह दें, दूसरा कुछ करना न करने से खराब होगा।"

अपने घर में लाने की बात वह सुनने को तैयार न थीं।

ऐसे दिन कटते चले गए।

एक दिन में देर से लौटा। मित्र मिल गए और सिनेमा ले गए। ऐसी देर भी नहीं थी, साढ़े-नौ का समय होगा। पर दरवाजा खट-खटा रहा हूँ और आवाज लगा रहा हूँ, लेकिन ऊपर किसी को कुछ खबर ही नहीं है। इस प्रयत्न में मुझे पाँच-सात मिनट हो गए। मुझे बेहद बुरा मालूम हुआ। इतने में सामने के चबूतरे से आवाज आई, "बाबूजी, आप खड़े क्यों हैं, यहाँ आजाइए।"

एक-आध बार तो मैंने टाला। पर यह सोचकर कि इसमें वह अपना अपमान न समझे, मैं उसके पास जा बैठा। उसने कहा, "बहू-बेटियाँ हैं, आँख लग गई होगी। आप यहाँ आराम से बैठ जाइए। फिर कुछ देर में आवाज दे लीजिएगा, आ जायँगी।"

बातों-बातों में उसका इतिहास मालूम हुआ। दो उसके छोटे भाई हैं। इन्हें उसी ने पाला-पोसा है, ब्याह किया है। उसकी पान की दूकान थी। चलती थी। फिर उसमें टोटा आने लगा। पैसा देता रहा तब तक भाई उसके थे और उनकी बीबियाँ भी उसे मानती थीं। भाई दो पैसा लाने लगे और दूकान उठ गई तो अब उसे यहाँ पटक रखा है। न दवा है न दारू है। ऊपर से ताने और सुनाये जाते हैं। दो वक्त खाने का भी ठीक नहीं।

खखार डालने के लिए राख का एक मिट्टी का बर्तन पास था, फिर भी वह आदमी इधर-उधर खखार देता था। वह दुबला था, पीला और कनपटी की हड्डियाँ बहुत उभरी हुई थीं। आँखें अन्दर धँस गई थीं। सब मिलाकर दृश्य रुचिकर न था।

भाइयों की और उनकी बीबियों की उसने सख्त शिकायत की। वे

अब आँख बचाते हैं और पास नहीं फटकते। दो-चार का जो उस पर देना आता है, वह हमें घड़ी भी चैन नहीं लेनें देते। उनकी तरफ बल्कि आस-पास सबकी तरफ उसके मन में कड़वाहट थी। और छोड़ते-छोड़ते भी वह मानो इस दुनिया को अभिशाप देकर जाना चाहता था।

अन्त में उसने मुझसे कहा कि क्या दो रुपये में उसे दे सकता हूँ ? बड़ी मेहरबानी होगी। दो रोज जी लूँगा। मैंने कह दिया था कि दे दूँगा।

यहाँ श्रीमती की बात कहनी चाहिए। यह सही नहीं है कि उनकी नींद कुम्भकर्णी है। जरा खटके पर जग जाती हैं। किन्तु नौ बजे उनके समय की अवधि है। आवाज पर वह जग तो गई थीं पर नौ कब का हो चुका था। इसलिए निर्विघ्न भाव से उन्होंने मुझे कुण्डा खटखटाते और चिल्लाते रहने दिया। घड़ी मेरे पास रहती है, फिर भी शायद उनका तरीका यह बताने के लिए था कि अब क्या बजा है ! अब वह चलकर दरवाजा खोलने को तत्पर ही थीं कि नीचे से पुकार बन्द हो गई। ऊपर चुपके झरोखों में से झांककर देखा कि मैं खाट वाले बुड्ढे के पास हूँ। वह इस बात पर अप्रसन्न थीं ! कुछ देर तो धीरज से सहती रहीं। अनन्तर असह्य होने पर नीचे आकर द्वार खोलकर बोलीं, "आओगे नहीं ?"

मैं तत्काल उठा। आकर कहा, "इतनी आवाजें दीं, तुमने सुना नहीं ?"

बोलीं, "मेरी आँख लग गई थी। आधी-आधी रात आओगे तो मैं कब तक जागती रहूँगी !"

"अब तो बिना आवाज के जाग गईं ?"

"ये बुड्ढे की खौं-खौं रात को सोने देती है ? उससे क्या बात हो रही थी ?"

सच यह है कि विवाह को पन्द्रह वर्ष हो गए, पर उनके गुण मैं अभी नहीं जानता। बता दिया दो रुपये देने को कह आया हूँ।

क्लर्क आदमी हूँ, इससे मेरी गिरस्ती का हाल आप जान ही सकते हैं। हिसाब कसा-बंधा रहता है। घट-बढ़ की गुंजाइश तो उसमें से शायद ही निकले। तीस दिन के वेतन में २८ दिन का खर्च। इस तरह दो दिन हिसाब में सदा चढ़े रहते हैं। इस चौकस हिसाब में ऐसी कहीं सन्धि नहीं है कि दया-माया का उसमें से प्रवेश हो सके। बोलीं, "तुम्हें मालूम नहीं, इसी बात पर उसके घर के लोग रोज कितना कहते-सुनते हैं। हर किसी से वह कुछ-न-कुछ मांगता रहता है। दो-दो चार-चार आने तक ले लेता है। तुम्हीं न देखो कि घर वालों को हय कितना बुरा लगता होगा? सब उन्हें दोष न देते होंगे? तुम हरगिज यह रुपये न देना। भला वह लोग क्या कहेंगे कि पड़ौसी होकर हम सबके बीच उन्हें शर्मिन्दा करा दें।"

सोचा कि सचमुच सवाल का यह पहलू भारी था! यों तो हिसाब की बात भी छोटी न थी पर पति का दिया वचन पत्नी के लिए इतना सर्वोपरि होता है कि हिसाब-किताब की गिनती उसके आगे नहीं है। पर यह सोचने की बात है कि रुपये देकर पड़ौसियों के अपमान का तो मैं भागी नहीं? रुपये का वह करेगा भी क्या? न खाने योग्य कुछ खायगा, और क्या!

इस भाँति अगले रोज समय पर नीची निगाह किये मैं सीधा दफ्तर चला गया। आया तो सीधा चढ़ता हुआ ऊपर घर आगया। दरवाजे के पास के दस कदम में अत्यन्त व्यस्तता के साथ रखता था, कि जैसे कोई बहुत जरूरी काम है। बिना देखे मैं देखता था कि खाट पर से आशा की दो आँखें मुझ पर लगी हैं। उस आशा को निराश कर रहा हूँ यह भी नहीं, मानो काम बेहद है, नहीं तो—नहीं तो—

ऐसे चार-पाँच रोज और निकल गए। तेजी से दरवाजे से निकलता और तेजी से दाखिल होता। फिर भी मैं उन आँखों को बचा पाया, ये सान्त्वना मुझे न हुई।

पाँचवे या छठे रोज देखता हूँ कि चबूतरे पर कुछ सरगर्मी है, घर

वाले व्यग्र हैं। बाहर काफी लोग आ-जा रहे हैं। दो-चार पास-पड़ोस के आदमी भी वहाँ जमा हैं। शायद तबियत ज्यादा खराब है। इस तरह में भी वहाँ पहुँच गया।

बुड्ढा उस वक्त बेहोश था। उपचार किया जा रहा था, पर लोग देख रहे थे कि घड़ी अन्तिम है। अब होश आए भी कि न आये। मैं एक लोहे के स्टूल पर खाट के पास बैठा था। घर के और लोग खड़े थे। इतने में उसे होश हुआ, आँखें खोली, इधर-उधर देखा। फिर मुझ पर आँखें टिकीं। जैसे मुझे पहचानने में कुछ समय लगा। फिर बोला, "तो लाये ?"

कहकर मेरी तरफ देखते हुए उसकी आँखें फटी-की-फटी रह गईं।

मैं उसकी आँखों की ओर देखता रह गया। लोग मौत को पहचान गए। वे रोने लगे। उसकी आँखों में मैं जो देख रहा था वह मौत ही थी, या कि अब भी प्रश्न था—"लाये ?"

मुझे लगा कि जैसे मेरे और सबके प्रति वह यही पूछता हुआ गया है, "तो लाये ?"

व्यर्थ प्रयत्न

चिन्तामणि की अवस्था अधिक नहीं है। देह से दुबला है, मस्तक बड़ा, आँखें छोटी और तीव्र। चेहरा प्रभावोत्पादक। लेखक है, और प्रोफेसर। कम लिखता है, पर लिखता है तो गहन। साथी अध्यापकों में अच्छी ख्याति है। बहुत पढ़ता है। वेतन मिलता है पाँच सौ, बचता एक पैसा नहीं। यह उस वक्त जब कि वह अकेला है, शादी नहीं की। कोई व्यसन उसे नहीं है। पिछले शनिवार की संध्या को पहली बार सिगरेट उसने पी। वह उसे बुरी मालूम हुई, इसीलिए हठपूर्वक उसे उसने पूरा पीकर छोड़ा। यह उसने सँगी-साथियों के बीच में नहीं किया, एकान्त में सिर्फ अपने सामने किया। अपने संकल्प में वह सँगी-साथियों का साथ नहीं चाहता। "मैं अकेला चलूँगा, अकेला। मैं, मैं हूँ।" अब तक कोई कभी उसे सिगरेट न पिला सका। जब सबने देख लिया कि वह अविजेय है, तब उसने सोचा कि मैं अब खुद अपने पर विजय पाऊँगा इसलिए उसने एकान्त कमरे में स्पर्द्धापूर्वक सिगरेट जला कर पी। उस का मन मिचला आया, उबकी आने लगी, लेकिन शहीद की भाँति वह सब सह गया। उसने सोचा कि यह सब मन की कमजोरी है। मैं अपने पर विजय पाऊँगा।

स्त्रियाँ कई उसके जीवन में आई हैं, लेकिन सब राह में टूट गई हैं।

और चिन्तामणि उनके क्षत-विक्षत हृदयों के बीच में से, दाएँ-बाएँ देखता हुआ, बराबर अपनी राह पर चलता अब बत्तीसवाँ वर्ष पार कर रहा है। कभी सूना-सा लगता है, तो लगो। कुछ याद उठती है,—तो उठो। यह तो व्यक्तित्व की त्रुटि है। तभी तो चाहिए साधना। और वह भीतर का और बाहर का सब सूनापन पी जाना चाहता है। वह नहीं जाता सिनेमा, नहीं देखता मेले-तमाशे, जलसे-जलूस, और नहीं शामिल होता हा-हा—ही-ही में। वह खाली वक्त को खाली रखता है और वक्त के खालीपन से अपनी जान बचाने के लिए किसी भी ढकोसले में, किसी भी ओट में, जा छिपने में विश्वास नहीं करता। वह वक्त को बिताएगा नहीं, उसे झेलेगा। वह उस समय की शून्यता में आँख गड़ा कर देखता है। देखता है कि, जो हो, दीखे। अपने मन की ही आकांक्षाओं की तस्वीरों को उस वर्णहीन समय के पट पर देख कर तो मान जाने-वाला चिन्तामणि है नहीं। वह वही देखना चाहता है, जो है। पर जो है, वह शून्य है। शून्य अपने पेट में भी शून्य ही है। इसलिए दीखता यह है कि कुछ नहीं। पर नहीं कुछ दीखता तो न दीखे, चिन्तामणि हारनेवाला नहीं है, भागनेवाला नहीं है। क्या सब-कुछ एक कोरा 'नहीं' है,—यह वह मान ले?

आँखें उसकी बन्द नहीं हैं,—वह जगत् पर इतनी खुली हैं जितनी खुल सकती हैं। देखता है—ये लड़कियाँ हैं, ऐसी हँसती हैं जैसे फुहारा। आज नीले रंग की साड़ी है तो कल लाल रंग की। जैसे फूलों से भरा बगीचा हो, वैसे उनसे भरा संसार है। दीखता है—यह चाँदनी-चौक है। यहाँ सब-कुछ अपने को दिख रहा है। यह विलायती बाजार है, जहाँ क्या नहीं है जो लुभावना है। सब देखता है, लेकिन...ऊँह...उसका मन उन में खिचाये नहीं खिचता।

देखता है—सड़क के किनारे पड़े ये कोढ़ी हैं, ये भिखारी हैं। अस्पताल में से यह चीख़ आ रही है। ये मरघट पर मुर्दा लिये जा रहे हैं, जो घड़ी-भर पहले जिन्दा था। यह शोर है, यह हड़ताल है, यह जलूस है, यह सभा

हैं। वह सब देखता है, पर उसका मन इनमें से किसी से नहीं भरता।

वह सूरज निकल रहा है। आसमान कैसे रंग से खिल आया है। किरणों की कैसी लहरें चहुँ-ओर व्याप रही हैं। वह देखो सूरज लाल-लाल गोल-गोल उग आया।...यह सन्ध्या आ गई। कैसी मीठी अँधियारी है। बादल कैसे सलोने, रंग-बिरंगे और प्यारे लगते हैं।...यह बादल कड़का। घन-घोर घटा घिर आई। वह बिजली चमक गई। अब मेह पड़ेगा। पक्षी बसेरे की टोह में भागे जा रहे हैं।...वह सब देखता है और प्रसन्न हो जाता है।

गाय रँभा रही है: बछड़ा कहाँ है, कहाँ है? रस्सी से छूट-कर बछड़ा वह कूदता आया और भरे-थन में मुँह मारने लगा। पेड़ खड़े हैं जो हवा की थपकी लगी नहीं कि झूम उठते हैं। साल-साल खट्टे-मीठे फल देते हैं।...घास है, जो नन्हीं-नन्हीं चारों ओर धरती पर उग छाई है। वह चलते पैरों की चोट के नीचे पिस जाती है और फिर बेचारी मुँह उठाकर धूप की ओर देखने लगती है। हवा चौबीसों-घण्टे चलती रहती है और चौबीसों-घण्टे हम उसे नथनों से भीतर लेकर उन्हीं नथनों बाहर कर देते हैं। और वह बहती रहती है, बहती रहती है। पानी ऊपर से बरसता है तो धरती में से भी फूटता है। नदी में और नल में बादल में और बासन में, समान भावसे भरा हुआ पानी पानी ही बना रहता है।...चिन्तामणि सब देखता है। जिज्ञासा से, विस्मय से, प्रश्न से भरा हुआ सब देखता है।

कबूतर की जोड़ी बैठी क्या कर रही है? क्या कर रही है? बड़ी मगन है! गुटुर-गूँ, गुटुर-गूँ वह क्या कर रही हैं?...

चिन्तामणि आदर के साथ सब देखता है। वह सब चाहता है, इसलिए वह कुछ नहीं चाहता। उसका कमरा ज्ञान की किताबों से भरा पड़ा है। नई-से-नई और पुरानी-से-पुरानी किताबें उसकी अपनी हैं। सब हैं, पर कुछ नहीं है। उसका अपना आपा कहाँ है? और इन सबका आपा कहाँ है?...

और यह उसका प्रश्न,—चाहे जितना सोचे, जितना पढ़े,—और भी तीव्रता से उसके भीतर ऐसा आवर्त देता हुआ घुमड़ता रहता है, जैसे व्यथा की घूँट।

उत्तर कहाँ है, कहाँ है? कहीं से भी तो वह उसके पास चलके नहीं आता है। जो है प्रश्न है। 'यह' क्या है?—नहीं मालूम। 'वह' क्या है?—नहीं मालूम। पर इन सारी किताबों की मदद से और अपने मन की मदद से इतना अवश्य मालूम है कि 'यह' 'यह' नहीं है, 'वह' 'वह' नहीं है। तब 'यह' और 'वह' क्या है,—कैसे मालूम हो? यही कैसे मालूम हो कि ऐसे मालूम हो?

चिन्तामणि दुबला होता जाता है। स्त्रियों से मिठास से बोलता है। धीमे और मुस्कराकर बोलता है। वह जानता है, बच्चों, मूर्खों और स्त्रियों से ऐसे ही बोलना चाहिए। विद्वानों से वह बोलता ही नहीं। बोलता है तो और भी मुस्कराकर बोलता है, क्योंकि जानता है कि वे सबसे भारी मूर्ख होते हैं।

पर हाय, ये सब मूर्ख इसीसे उस पर और मुग्ध होते हैं। तब वह उनके लिए रोना चाहता है। उसको बड़ा क्रोध आता है। पर कौन है जो निरीह नहीं है और जिस पर वह क्रोध तक कर सके?

कल शाम वह क्यों ह्विस्की की बोतल साथ लेता आया,—क्या कोई जानता है? शायद कोई नहीं जानता। और वह क्या जानता ह? क्या वह अपने ऊपर विजय पाना चाहता है? वह सब बात पर विस्मित है, लज्जित है।

शराब से उसे अत्यन्त घृणा है। आदमी ने जितने धोखे खड़े किये उनमें शायद सबसे बड़ा यह है। एक इससे भी बड़ा धोखा है, वह है परमात्मा। लेकिन वह तो इतना बड़ा है कि उस में पड़ कर आदमी को यह सूझ ही नहीं रहती कि यह धोखा है। शराबी नशे में भी जानता है कि यह वह खुद नहीं है, जो है शराब है,—धोखा है।

आज पिछले आठ वर्षों से चिन्तामणि अपने प्राण-प्रण से खोजता रहा है कि वह मिले जिसे कहते हैं—'परमात्मा'...वह एक और अकेला झूठ, जिसके आगे सब झूठ सिर झुकाते हैं; वह धोखा जिसमें हमारी सब सच्चाई बहकर ऐसी खो जाती है जैसे समुद्र में नदियाँ; वह शून्यता जिसमें हमारा सब वास्तव समाया हुआ है।—वह परमात्मा मिले जिसमें सब-कुछ एक साथ मिलता है।—वह नशा जो कभी उतरे ही नहीं। उसे चाहिए वही सनातन, शाश्वत, अवास्तव सत्य जिसके आशीर्वाद से नितप्रति रङ्ग बदलने वाला सब झूठ सरस हो जाता है। वह एक जिसका सबको आसरा है।

पर सब ज्ञान छान मारा वह तो कहीं मिला नहीं। कहीं नहीं मिला, कहीं नहीं मिला। क्या वह मिलेगा भी ?

नहीं ही मिला, तो चिन्तामणि आज यह ह्विस्की की बोतल ले आया है। इसकी मदद से पाँच मिनट, घण्टा-आध-घण्टा तो जरूर ही कुछ न पाने पर भी सब-कुछ पा रहा जैसा अपने को समझेगा। अरे, कुछ सुरूर तो मिलेगा। खुदी भी तो बेखुदी में ही है। वह खुदी भी क्या कुछ न मिलेगी ?

बोतल आलमारी में रखकर वह अपने अकेले कमरे में पलङ्ग पर आकर लेट गया। वह छत की तरफ देखता हुआ सोचता रहा, सोचता रहा। फिर ईशोपनिषद् लाकर लेटे-लेटे उसे पढ़ने लगा। एक मन्त्र पढ़ा और उसमें डूब गया। किताब बन्द करके एक तरफ रख दी और दोनों हाथों से आँख मींचकर करवट लेकर पड़ रहा।

रात-भर क्या उसे नींद आ सकी ? लेकिन वह जागता भी नहीं रहा। तमाम रात उसका सिर चकराता रहा। बीच में कई बार उठकर बरामदे से बाहर आकर ठण्डी हवा में वह टहल-टहल गया। पर दिमाग में क्या धमाधम चल रहा था कि घड़ी-भर को चुप न हुआ।

आखिर चार बजे का घण्टा उसने साफ सुना। उसने अपनी घड़ी देखी। सेकिन्ड-सेकिन्ड सही थी।

वह शून्य-भाव से उस चार को चारों-ओर देखने लगा—

क्या वह पागल हो जायगा ? क्या है ? रोशनी ! रोशनी क्यों है ? क्या है ? यह क्या है ? वह क्या है ? मैं क्या हूँ ? सब क्या है ? 'कुछ नहीं' है ? तो 'कुछ नहीं' क्या है ? और वह कहाँ है जो सब कहीं है ? कहाँ है वह ? अरे, कहाँ है वह ?...ओह !...

और उसने आलमारी में से बोतल निकाली और दो पेग पी गया !

त्रिबेनी

त्रिबेनी आखिर चौक से बाहर आई।—यह कुलच्छनी लड़का जाने कहाँ धूल में खेलता फिरता है। और आता है तो रोता हुआ। घड़ी-भर चैन नहीं लेने देता,—हाँ तो।

चौक से बाहर आकर कान पकड़-कर उसने कहा, "क्यों रे! तू कहाँ था? बोल कहाँ था? बोलता नहीं?—तो जा, मर।"

बच्चा न बोला, न गया, न मरा। रोता आया था, सो रोना भी बन्द हो गया और मुँह फुला कर गुमसुम खड़ा हो गया।

त्रिबेनी ने कान और खींच कर कहा, "क्यों रे! जवाब क्यों नहीं देता, कहाँ गया था?

लड़के का नाम रिपुदमन है। वह फूले काठ के लट्ठे की नाईं अटल और अपराजित बना हुआ खड़ा रहा।

"अभी तो कपड़े पहनाए थे, अभी कैसे कीचड़ कर लाया? क्यों रे! गया कहाँ था?" कह कर त्रिबेनी घर में खाने को हो तो बच्चे के लिए लेने चली गई।

रिपुदमन आँगन में अकेला रह गया। पहले तो वह खड़ा रहा, खड़ा रहा। फिर उसके बाद चुपचाप बाहर निकला और पास के एक कुएँ पर चढ़, उसमें पैर लटका कर बैठ गया।

कुछ गजक-रेवड़ी हाथ में लिए त्रिबेनी जो बाहर आई तो देखती है, आँगन में चिड़िया का पूत भी नहीं है। बोली, "पाजी कहीं का।" और एकदम चलती हुई दरवाजे से बाहर आ गई। पुकार कर बोली, "ओ, कहाँ गया रे ? ले, यह ले।"

इतने में देखती क्या है कि वह सामने कुएँ में पैर लटकाए जो बैठा है, वह है रिपुदमन। लपकी और बाँह पकड़ कर झटके से उसे उठाकर घसीटती हुई ले चली। घिसटते हुए बालक बोला, 'नहीं खाऊँगा। कुछ नहीं खाऊँगा। कभी नहीं खाऊँगा।"

अब बालक ने अपना बोझ ही छोड़ दिया, और वह धरती पर गिरा जाने लगा। उसको सीधा थामे रखने में त्रिबेनी की कलाई दुःख चली। तब उसने बालक की बाँह छोड़कर कहा, "नहीं खायगा ! तू नहीं खायगा ?" और यह कह कर उसे थप्पड़ों, लातों से मारने लगी।

बालक रोया बिलकुल नहीं। उलटे उद्दण्डता से चिल्लाता रहा— "मार ले आज। तू खूब मार ले। जी भर कर मार ले। मैं नहीं, नहीं, नहीं खाऊँगा।"

"मत खा, मत खा, चंडाल !" कह कर हाथ की गजक और रेवड़ी को जोर से बच्चे के सिर पर पटक कर त्रिबेनी झींकती हुई घर में चली गई।

अन्दर चूल्हे के पास गई। आँच मन्दी हो गई थी। उसने धुआँ देकर जलती हुई लकड़ी को जोर से चूल्हे के भीतर किया। पास से उठा कर दूसरी लकड़ी को भी उसमें ठूँसा। फिर जोर-जोर से फूँक मारने लगी और बीच-बीच में झल्लाती जाती थी। आग आखिर बल आई। उसने चूल्हे की बटलोई को ठीक किया। फिर वहीं चूल्हे के बराबर माथे को हथेली में लेकर बैठ रही।

...अब तक नहीं आये ! छुट्टी नहीं हुई ? ऊँह, होगा कुछ।...सच, अब मुझ से नहीं होता काम। वह जानें, उनका काम जाने अब। फिर...

यह साँसत आये-साल सिर पर रक्खी है। भगवान्, तूने औरत को क्यों जनमाया ? आये दिन यही धन्धे, तिस पर क्लेश ! मुझ से नहीं होता, नहीं होता। सिर तो फटा जाता है, कैसे करूँ ?...

उठ-कर कमरे में आकर खाट पर बैठ गई। उसका जी ठीक नहीं रहता। ब्याह के बाद से ही कुछ गड़बड़ हाल है। तबियत अनमनाई, मिचलाई रहती है। सिर में दर्द तो हर घड़ी बना रहता है। हरारत भी लग आया करती है। आराम चाहती है, पर आराम कहाँ मिलता है ? और मिलता है तो उससे भी उकताहट जल्दी आ जाती है। एक दिन कटता है, दूसरा दिन आ जाता है। उसकी समझ में नहीं आता, ये दिन पर-दिन क्यों आते हैं ? कहाँ से आते हैं ? सब-कुछ एक साथ खतम क्यों नहीं हो जाता ? जीना एक दिन के लिए हो और खूब खुशी से फुल-झड़ी की तरह उस दिन जी लिया जाय, फिर अगले दिन के लिए कुछ रहे ही नहीं,—ऐसा हो तो क्या हर्ज है ? देखो, पड़ोस में उनके घर कैसी हँसी रहती है। बच्चे कैसे फूल से खिले रहते हैं। एक हम हैं कि ....ऊँह...हैं तो हैं !—एँ वक्त क्या हो गया ? वह आते न हों ?

सोचने लगी कि वह उठे, जाकर गरम पानी ठीक कर दे, कुछ नाश्ते का बन्दोबस्त कर दे, क्योंकि वह आते ही होंगे।

त्रिबेनी के पति मनसाराम स्कूल में मुदर्रिस हैं। चौबीस रुपए माह-वार पाते हैं। ब्याह को पाँच से कुछ ही ऊपर साल हुए हैं। बड़ा बच्चा रिपुदमन है ही। एक लड़की हुई थी, जो एक बरस के ऊपर की होकर चेचक में जाती रही। दूसरा बच्चा मरा पैदा हुआ, आखिरी गर्भ गिर गया। इस तरह तीन प्राणी हैं। सो, चौबीस में क तरह से गृहस्थी मजे में निभ जाती है। दो-चार रुपये बचा कर वे दोनों जने आयन्दा के लिए सैंत कर जोड़ते भी जाते हैं। इस भाँति गृहस्थी की गाड़ी चल ही रही है।

चल तो रही है, पर चूँ-चूँ भी करती जाती है। जिया जा रहा है,

पर जीने का कुछ रस नहीं मिल रहा है। दोनों जने मिलते तो हैं, बोलते भी हैं; आये-साल दोनों अपने बीच नई सृष्टि भी करते हैं। पर ढर्रा है, चल रहा है। जो हो रहा है, हुए जा रहा है। कुछ लुत्फ़ नहीं, सार नहीं। मानो सब-कुछ बीतने के लिए बीत रहा है। मौत आवेगी तब कहीं छुट्टी होगी।

त्रिबेनी सोच रही थी कि अब उठूँ, जाऊँ, उनके लिए पानी ठीक कर दूँ। इतने में पति आ गये।

आते वक्त रास्ते में उन्होंने देखा था कि रिपुदमन धरती से चिपट कर पड़ा है। रूठा मालूम होता है। शायद पिटा हो। उन्होंने पूछा था, "क्यों रे! क्यों रो रहा है?" जब पूछने और बाँह पकड़-कर झिटकने से भी लड़का नहीं बोला, तब मास्टर ने कहा, "माँ ने मारा होगा। क्यों?" बालक फिर भी कुछ न बोला। इस पर भारी मन से मास्टर बच्चे को वहीं छोड़ चुप-चाप चले आये।

त्रिबेनी उठ रही थी कि पति को आता देख कर खाट पर ही बैठी रहीं। पति कमरे में आये, साफा उतार कर खूँटी पर लटका दिया, कोट भी उतार कर टाँग दिया और बिना बोले चुपचाप बाहर आँगन में आ गये। वहाँ घड़े से पानी लेकर हाथ-मुँह धोने लगे।

त्रिबेनी बैठी देखती रही। दोनों में से कोई कुछ नहीं बोला। पति ने आराम से वक्त लगा कर हाथ-मुँह धोया, अँगोछे से पोंछा, फिर कमरे में आये। वहाँ आकर कोट पहना और साफा सिर पर रखते हुए बोले—"मैं खाना नहीं खाऊँगा आज।"

पल-भर मौन रहकर त्रिबेनी ने कहा, "खाना नहीं खाओगे। कल भी नहीं खाओगे?"

"नहीं दोगी तो नहीं खाऊँगा। देखो, मेरा इन्तज़ार मत करना। लौटने में मुझे आज देर हो सकती है।"

"कुछ काम है?"

"काम भी है।"

इसके बाद त्रिबेनी ने कुछ नहीं पूछा। मास्टरजी ने भी कुछ अपेक्षा नहीं की और कदम बढ़ाकर चले गये।

त्रिबेनी कुछ देर तो वहीं-की-वहीं बैठी रही। थोड़ी देर बाद उठी और जाकर चूल्हे में पानी झोंक दिया, बटलोई को उतारकर धरती में पटक दिया। फिर खाट पर मुँह ढाँपकर पड़ गई।

आधा घण्टा हुआ होगा कि त्रिबेनी उठी। एक साथ उठकर झाड़ू से घर का आँगन बुहारने लगी। वहाँ कूड़ा ज्यादा नहीं था, पर त्रिबेनी आँगन साफ़ करना चाहती थी। बुहारी हाथ में थी, तभी उसने सुना कि कोई दरवाज़े के बाहर से 'उन्हें' पूछ रहा है। पूछ रहा है, "मास्टर मन्सारामजी का घर क्या यही है ?—मास्टरजी ! मास्टरजी !!"

पहले तो वह उस स्वर पर चौंकने को हुई, फिर 'होगा कोई' मन में कहती हुई अपने काम में लगी रही। इतने में ही आगत व्यक्ति अन्दर आ गया और आँगन के किनारे खड़े होकर पुकारने लगा, "मास्टर मन्सारामजी, मास्टरजी हैं ?"

त्रिबेनी ने आँख ऊपर उठाकर देखा। देखकर वह सन्न रह गई। बुहारी हाथ से खिसक गई। वह व्यक्ति भी अकचका गया। हठात् बोला, "मास्टरजी हैं ? मैं मिलने आया था।"

क्षणेक तो त्रिबेनी विमूढ़ हो गई। फिर उसके मुँह से निकला 'आओ।' निकला तो, पर वह खड़ी वहीं-की-वहीं रह गई।

व्यक्ति ने बिलकुल ही पास आकर मानो उसकी आँखों में कहा, "मैं मिलने आया हूँ। वह हैं ?"

अब त्रिबेनी स्वस्थ हो आई। मुस्कराकर बोली, "वह तो नहीं हैं"...

कहकर अन्दर गई और उसने कोने से मोढ़ा खींचकर अपनी धोती से उसे झाड़कर खाट के पास बिछा दिया। किनारे एक काठ की कुर्सी पड़ी थी, उसे भी बिछा दिया। नीचे पड़ी दरी खींचकर, तह करके

कुर्सी पर डाल दी। व्यक्ति आँगन में खड़ा था। त्रिबेनी ने कहा, "आइए।"

व्यक्ति ने हँसकर कहा, "लेकिन मैं तो एक हूँ।"—और वह कमरे में गया।

त्रिबेनी ने उधर ध्यान न देकर कहा, "बैठिए।"

व्यक्ति के बैठने से पूर्व वह ही कमरे से बाहर चली गई। चौके में पहुँचकर उसे अचरज हुआ कि उसने यह चूल्हे में पानी कब डाल दिया, क्यों डाल दिया ? क्या अब अँगीठी में आग सुलगावे ? उसने अँगीठी ली और आँगन से होकर घर के बाहर चली।

व्यक्ति ने आँगन में से जाते हुए उसे देखकर कहा, "क्या कर रही हो ? क्या इरादा है ?"

लेकिन त्रिबेनी ने उसकी बात सुनी भी नहीं और बाहर जाकर एक पड़ोसिन से कहा, "बीबीजी, अपने हेम से चार पैसे का दही मँगा दो। और रबड़ी,—चार पैसे की रबड़ी। और दो बीड़े पान।...और तुम्हारे घर में आँच हो गई है ? दो कोयले आँच के और दे दो, बीबीजी ! मुझे जल्दी है।"

कहकर पड़ोसिन को पैसे दे दिये और अँगीठी में कोयले लेकर चली आई।

जा रही थी, तब व्यक्ति ने फिर कहा, "यह कर क्या रही हो ?" त्रिबेनी ने कुछ नहीं सुना। चौके में जा अँगीठी में कोयले डालकर वह जल्दी-जल्दी फूँक मारकर उन्हें दहकाने में लगी रही। आँच हो गई, तब वही आलू की बटलोई उस पर रख दी।

अब कमरे में आई। अतिथि ने कहा, "यह क्या कर रही हा ? देखना कुछ...।"

वह बोली, "मास्टरजी यहाँ नहीं हैं..."

"नहीं हैं ? कब आयेंगे ?"

"मालूम नहीं। देर भी हो सकती है।"

"कितनी देर ?"

"मालूम नहीं।"

"अच्छा, तो मैं चलूँ। मिलना था। मुझे इसी गाड़ी से जाना भी है।"

"आप मास्टरजी से ही मिलने आये थे ? वह तो हैं नहीं।"

व्यक्ति कुछ देर त्रिबेनी को देखता रहा। वह भी देखती रही। सहसा वह बोला, "मेरा ताँगा खड़ा है। ताँगे वाला इन्तज़ार करता होगा।"

त्रिबेनी ने कुछ नहीं कहा, चुपचाप खड़ी रही। जब देखा कि उसे बोलना ही होगा, नहीं तो कहीं यह आदमी प्रत्याशा से उसे देखता ही न जाय, तब बोली, "मैं क्या कह सकती हूँ। आप आये हैं। जाना चाहें तो रोकने वाले मास्टरजी होते, वह हैं नहीं। क्या उनके नाते मैं रुकने को कह सकती हूँ ?"

व्यक्ति ने कहा, "त्रिबेनी, हम सच क्यों न बोलें ? सच यह है कि मुझे मालूम नहीं। और अब तो कल मुझे कानपुर ज़रूर पहुँचना है। यह आखिरी गाड़ी है। मुझे जाने दो, त्रिबेनी !"

त्रिबेनी ने कहा, "जाओ न। मैं क्या कुछ कहती हूँ ?"

"लेकिन तुम नाराज़ तो नहीं हो ?"

नाराज़ ! नाराज़ होकर क्या कर लूँगी ?"

"देखो त्रिबेनी, इसीसे मुझे और भी चलना चाहिए। लो, मैं चला।"

व्यक्ति कुर्सी से उठा। त्रिबेनी दरवाज़े की राह छोड़ अलग हो गई। जैसे किसी की राह के बीच में होकर खड़ी होने वाली वह कौन है ?—वह कोई नहीं है। पति की पत्नी है और पति इस समय नहीं है।

व्यक्ति ने कहा, 'अच्छा तो त्रिबेनी, मुझे माफ करना।"

त्रिबेनी कुछ नहीं बोली। व्यक्ति चलकर आँगन में आ गया। कमरे में से ही अब त्रिबेनी ने कहा, "लेकिन सुनो। मैं पूछती हूँ, तुम आये क्यों ?"

व्यक्ति मुड़कर त्रिबेनी की ओर देखता हुआ खड़ा रह गया। दिन हुए, ज़िन्दगी में एक बात आई थी। वह आई नहीं कि बीत गई। उस नन्हीं-सी बात की समाधि के ऊपर से बरस-के-बरस धड़धड़ाते हुए निकल गये हैं। वही बीती बात उन सब वर्षों को व्यर्थ बनाकर आज कोंपल फोड़कर हरी-हरी उठ आना चाहती है क्या ! न, न, सो न होने देना होगा। अतिथि कुछ न बोला।

त्रिबेनी ने कहा, "नहीं आते तो कुछ हर्ज था ?"

व्यक्ति यह सुनकर एकाएक लौटकर कमरे में आ गया और कुर्सी पर बैठ गया। बैठकर थिरता से बोला, "सुनो त्रिबेनी, इसके बाद गाड़ी रात के एक बजे जाती है। लेकिन खैर, एक काम करो। ताँगे में से समान मँगवा लो।"

"सामान मँगवा लूँ ?"

"हाँ, मँगवा सकती हो। यह हैं ताँगे वाले के पैसे। पर त्रिबेनी, बड़ी दया हो अगर न मँगवाओ। मेरे यहाँ रहने से किसको सुख मिलेगा ? तुमको नहीं, मुझको नहीं। फिर किसको ?...त्रिबेनी, मैं फिर कहता हूँ, मुझको जाने दो।"

त्रिबेनी कुछ देर चुप रही। फिर धीमे-से-धीमे बोली, "मैं तो कुछ भी नहीं कहती। मैंने कभी तुम्हें लिखा ? तुम्हें बुलाया ?—फिर तुम क्यों आये ?"

व्यक्ति लज्जा से कुछ लाल हो आया, जैसे अभियुक्त हो, बोला, "मैं यह नहीं जानता था, त्रिबेनी। सच, नहीं जानता था। नहीं तो—।"

उस समय शीघ्रता से त्रिबेनी ने कहा, "जाना बिलकुल जरूरी है ?—बिलकुल ?"

"जरूरी ?—लेकिन मैं तुमको एक क्षण भी दुःख नहीं दे सकता, त्रिबेनी। इसलिए बिलकुल जरूरी है।"

इतने में पड़ोसिन का वह लड़का हेम 'चाची-चाची' कहता हुआ अन्दर आया और चार-चार पैसे का दही और रबड़ी और दो बीड़े दिखाकर बोला, "चाची, देख, मैं दौड़कर लाया हूँ। दही वाला कम देता था। मैं भला कम लेने वाला हूँ ? मेरा नाम है, हेम। मैंने कहा, और रख। उसने और रखा। मैंने कहा, और रख। वह इधर-उधर करने लगा। चाची, उसने समझा, मैं लड़का हूँ। मेरा नाम है हेम। मैंने कहा, रखता है या नहीं। चाची, रखवा के छोड़ा रखवा के।—चाची, अब तुम्हीं बताओ, इस काम का मेरा एक पैसा हुआ कि नहीं ? क्यों चाची ?"

चाची त्रिबेनी ने कहा, "एक नहीं, दो। ला, यह चीज़ यहाँ मोढ़े पर रख दे। और देख, हेम भैया, चौके में से दौड़ के एक तश्तरी तो ले आ।"

तश्तरी आ गई। सामान उस पर रख दिया गया। दो पैसे हेम ने पाये और वह उछलता हुआ भाग गया।

अब त्रिबेनी ने अतिथि से कहा, "तो मैं खाना न बनाऊँ।"

अतिथि ने आश्चर्य से कहा, "खाना ? खाना बनाने की सोच रही थीं ?"

"कहो तो न बनाऊँ।"

अतिथि ने जोर से कहा, "नहीं बिलकुल नहीं। मैं मानता हूँ, मैंने गलती की, मैं आया। मैं नहीं खाऊँगा। मैं नहीं खा सकता। मैं इसी गाड़ी से चला जाऊँगा।"

त्रिबेनी उसे देखती रही। बोली, "तो इन चीज़ों को वापस कर

दूँ ? मेरे दस पैसे खर्च हुए हैं। दस पैसे,—जानते हो ? पर तुम बड़े आदमी हो—क्या जानोगे।" कहकर वह कठिन हँसी हँसी। बोली, "और इन्हें अब वापस कौन करेगा ?"

व्यक्ति कुछ देर तो मानो सहमा-सा रह गया। फिर एकाएक वह खिलकर हँसा। जोर से बोला, "छोड़ो,—छोड़ो। अच्छा, यह बताओ, तुम्हारे क्या बाल-बच्चे हैं ?" कहकर वह और भी हँसा।

त्रिबेनी की मुस्कराहट फैल गई, पर वह मुस्कराहट कठिन से और कठिन हो आई। बोली, "बाल-बच्चा ! हैं क्यों नहीं। हुए चार, है एक। बाहर तुम्हें कोई नहीं मिला ?"

व्यक्ति की हँसी भी इस पर सहसा रुक गई। मूढ़ बना वह बोला, 'क्या–आ"...

त्रिबेनी ने उसी भाव से कहा, "क्या–आ नहीं, बाल-बच्चा ! सच, तुम्हें बाहर कोई नहीं मिला ?"

व्यक्ति ने हँसकर कहा, "तुम जाने कैसी बात करती हो ! पर, सचमुच एक लड़के से मैंने मकान पूछा था। वह धरती पर पड़ा था। मेरी बात सुनकर चुपचाप उठा और मुझे यह मकान बता गया। फिर जाकर वहीं लेट गया। लेकिन तुम कह क्या रही हो ?"

मैं कह रही हूँ, "बाल-बच्चा" और उसकी हँसी और भी अनबूझ हो गई।

त्रिबेनी की इस हँसी को देखकर व्यक्ति काँपकर पीला पड़ गया। फिर एकाएक व्यस्त भाव से बोला, "देखो-देखो, मैं कहता न था, मुझे जाना चाहिए। देखो, अब तुम रो रही हो। मैंने, सच, बड़ी भूल की, मैं आया। मुझे माफ़ करो, त्रिबेनी। मैं चला। त्रिबेनी, इसी मिनट चला जा रहा हूँ। फिर तुम क्यों रोओ ?"

इस आदमी के मन की व्यथा को क्या वह समझती नहीं ?—तब वह उसे अपने आँसुओं से कैसे बढ़ा दे ? उसे अपना दुःख अपना पाप

मालूम हुआ। वह गुमसुम खड़ी रह गई। आँखों में जो पानी आ रहा था, वहीं रुक गया। और सचमुच वह प्रसन्न बनी बोली, "कभी राजी-खुशी का खत साल-छै महीने में नहीं डाल दे सकते? इतना काम रहता है!"

व्यक्ति ने रुककर कहा, "काम? पर अब तो खत नहीं ही डाल सकता। बताओ, क्यों डालूँ? और राज़ी-खुशी। ओह, राज़ी और खुशी तो मैं सदा का हूँ।"

त्रिबेनी ने असमन्जस में कहा, "अच्छा अच्छा। जैसी तुम्हारी मर्जी। मेरी कुछ इच्छा नहीं है। खुश रहो, यह चाहिए।...अच्छा और तो कुछ न खा सके, लो, यह पान तो ले लो।"

हाथों से उठाकर त्रिबेनी ने तश्तरी सामने कर दी।

अतिथि ने रुककर कहा, "पान, मैं"—

त्रिबेनी अब भी हठात् मुस्कराई। बोली, "पान भी नहीं खाते—तो, जाने दो।"

व्यक्ति ने उस मुर्झाई मुस्कान को देखा और जल्दी मचाकर कहा, "अच्छा लाओ, जल्दी लाओ।" और रखकर फिर उठाई हुई त्रिबेनी के हाथों में थमी तश्तरी में से मानो झपटकर बीड़ा उसने उठा लिया।

त्रिबेनी ने कहा, "इधर स्टेशन से तो कभी-कभी गुजरते होगे। यदि काम का हरज न हो, छठे-छमाहे दर्शन दे दोगे तो ऋण रहेगा।"

व्यक्ति ने कहा, "ऋण! तुम जानती नहीं, त्रिबेनी। लेकिन तुम्हारे प्रताप से अब यह कसूर मुझ से न होगा।"

यह कहकर वह हठ-पूर्वक अपने को सँभालकर चल ही दिया। पान हाथ में रहा।

त्रिबेनी देखती रही, देखती रही। फिर मानो मूर्च्छा से जागकर एकदम कर्त्तव्य-तत्पर हो पड़ी। सोचने लगी, रात को जब पति आवेंगे, मैं मैं उनसे क्षमा माँगकर अपने आँसुओं से उनका सब क्रोध बहा दूँगी। मैं बड़ी स्वार्थिन हूँ, बड़ी स्वार्थिन हूँ। इसी तरह की बातें सोचते-सोचते

वह बाहर गई और बच्चे को गोद में उठाकर चूमती हुई घर ले आई। उससे रो-रोकर माफी माँगने लगी और मनाने लगी। लेकिन बच्चे ने जब तक दोने की पूरी रबड़ी नहीं खा ली तब तक नहीं प्रकट होने दिया कि उसका क्रोध तनिक भी मन्द हुआ है। उस समय उस नारी में यह भाव हुआ कि यह बच्चा इतना बड़ा क्यों हो गया कि मैं आज इसे अपना स्तन-पान नहीं करा सकती। उसकी छाती में मानो दूध उमड़ने लगा।

प्रेम की बात

बात का प्रेम पर आना था कि प्रसाद बोले, "जी नहीं, मैं माफी चाहता हूँ। प्रेम में नियम नहीं होता। नियम आदमी बनाता है। प्रेम पर उसका बस नहीं। वह ऐसी चीज है, जैसे भूकम्प। वह आप में से नहीं आता है, हम में से नहीं आता है, अगम, अगोचर में से आता है। या जाने कम्बख्त कहाँ से आता है। उस पर बात नहीं की जा सकती।"

प्रसाद पचास पर पहुँचते होंगे। पर कभी उन्हें भी उम्र भूल जाती है, हमें भी भूल जाती है। उनकी जिन्दगी दिलचस्प रही है और हम जानते हैं कि जब वह अपनी बात सुनाने लगते हैं तो जरूरी नहीं है कि कल्पना से काम न लें या नमक-मिर्च से परहेज करें।

हमने समझ लिया कि कोई कहानी आ रही है। इससे बढ़ावा दिया और फिर सुनने की राह में हो बैठे। प्रसाद ने अन्त में कहा, "बहस छोड़िए। लीजिए अपनी बीती सुनाता हूँ। ऐसी बहुत दिनों की बात नहीं है, यही वर्ष १५ हुए होंगे। इसी शहर में था, और आपने श्रीमती मिश्र का नाम सुना होगा। जी, वही। जी हाँ, मोटर-एक्सीडेन्ट में जिनकी मृत्यु हुई।—कहाँ वह, कहाँ मैं? लेकिन छुटपन में मैं उन्हें जाना करता था। इतना छुटपन भी नहीं, श्रीमती मिश्र वह तब भी

थीं, लेकिन नई थीं, १७-१८ वर्ष की होगी । पर जमाना वह और था । देश में आन्दोलन था और उनका नाम था और वह जगह-जगह समाजों में बोलती थीं, और मालाएँ पाती थीं । मैं तब एक वालन्टीयर था और मेरी भी करीब वही उम्र थी, लेकिन मैं उन्हें दूर से देखता था, पास होता तब भी अपने को दूर लगता था । इससे उन्हें देखता था या उन्हें सुनता था । मुँह न खोल पाता था और पास न जा पाता था। वालन्टीयर बहुत थे और सब उनकी आज्ञा में थे । पर, देखता कि वे मेरी तरह चुप रहने की जरूरत में नहीं है । इसीलिए शायद या कृपा और करुणा के कारण उन्होंने मुझे छाँटा और अपनी सेवा में लिया । उस सेवा की क्या बात बताऊँ ? हुक्म सख्त होते और काम बेतुके । चाकरी का न समय, न उसके कानून । किसी तरह का कोई खत लेकर किसी समय कहीं भेजा जा सकता था । और रात दोपहर बीती हो कि तीन पहर, स्टोव पर चाय तैयार करने को कहा जा सकता था । मेरे पास अपने रुपए रहते थे; कहा जाता, कि जाओ चार टिकिट सिनेमा के ले आओ । टिकट ले आता और उनके तीन मित्रों को निमन्त्रित कर आता और सिनेमा तक पहुँचा कर पूछता, कि "अब जाऊँ ?" तो सुनता कि "नहीं, जाना मत । बाहर ही रहना । जाने हमें क्या जरूरत हो ।"

सुनकर हम मुस्कराने को हुए कि प्रसाद ने हँस कर कहा, "मैं बेवकूफ़ था न ? जी, मैं भी जानता हूँ । पर, उस वक्त जानने का मौका था ? इन्टरवल पर कभी वह बाहर आ भी जातीं और मुझे दौड़ा कर यह-वह चीज मँगा भेजतीं । नहीं तो मैं पूरे ढाई घण्टे उनके कम की राह देखता बाहर खड़ा रहता । अजब दिन थे और वह मुझे कमरे में अपने पलंग के पास ही फर्श पर सोने को कहतीं कि ज़रूरत पर फौरन काम आ सकूँ । और मैं बराबर हर ज़रूरत पर काम आता रहा । यानी कि कपड़े साफ़ हो जाते, जूते चमक जाते और तड़के अँधेरे किर्च-प्याले में चाय पेश हो जाती ।"

"यह—सब", प्रसाद ने हँस कर कहा, "मैं देश-सेवा के भाव से उछाह से करता था। पर देश कभी लुप्त होता तो सामने लीला मिश्र की मूरत रहती और सेवा उनकी हो रही है, इससे मैं और भी अपने को धन्य अनुभव करता। देश कुछ होगा, पर वह मेरे लिए साक्षात् भारत-माता थीं। उम्र मेरे-जितनी हो तो क्या, थीं तो महान। इतनी कि मैं उन्हें शिखर पर देखता था और अपने को पाताल में पाता था।

"पर महीने भर से अधिक सेवा का पुण्य मुझे नहीं मिल सका क्योंकि फिर पिता आ गए और माँ आ गईं और दोनों मुझे मना कर ले गए और फिर मैं वहीं अपने शहर में आकर टूटी पढ़ाई को जोड़ कर इम्तहान पास करने लगा।"

प्रसाद ने यहाँ साँस ली, एक लम्बी साँस, और कहा, "फिर तो दुनिया दो हो गईं और ज़माना गुज़र गया। पढ़ाई पूरी हुई। ब्याह हुआ। नौकरी से लगा। फिर बच्चे हुए। जिम्मेदारियाँ बनीं, इज्ज़त बनी और बचपन का बीता भूल गया। या याद आता तो ताश के तमाशे की तरह।"

"अब आप क्या समझते हैं? यही न कि बीता बीत जाता है? पर उस रोज़ शहर के गिने-चुने दो-तीन नेता मेरी बैठक में आए। मैंने अहोभाग्य माना। उन्होंने कहा कि अमुक अधिवेशन की अध्यक्षता के लिए श्रीमती मिश्र यहाँ पधार रही हैं। उन्होंने लिखा है कि वह आप के यहाँ ठहरेंगी। प्रबन्ध तो सब था और अब भी आप अनुमति दें तो, अनुकूलता हमारी ही व्यवस्था में ठहरने में होती। लेकिन मैं सहसा कुछ बोल नहीं सका।"

आगत महानुभावों ने कहा, "सर भटनागर के यहाँ किसी प्रकार का उन्हें कष्ट न होगा।"

मैंने कहा, "जी हाँ। आपकी ही व्यवस्था ठीक रहेगी। फिर मैं शायद उस दिन यहाँ रहूँगा भी नहीं, परसों ही तो अधिवेशन है।"

महानुभाव चले गए और मै सोचता रह गया कि क्यों श्रीमती मिश्र यहाँ ठहरेंगी ? मैंने अपने घर को याद किया, अपनी हैसियत को याद किया और अपने अतीत को याद किया। इसी सिलसिले में हठात् एक ठाकुर मित्र को भी याद कर लिया, जिनका बरसों का आग्रह था कि कभी उनके यहाँ आऊँ। याद आया कि रेल से तीस मील दूर उनकी जगह है, जहाँ ऊँट से जाना होता है। यही बहुत ठीक रहेगा। निश्चय हुआ कि पाँच रोज़ की छुट्टी ली जाय और ठाकुर-साहब को कृतार्थ किया जाय। चुनाँचे ठाकुर-साहब को तार दे दिया गया और जुगराफ़िए की किताब में से रास्ता तलाश किया। घर में कहा—"देखना, मुझे ज़रूरी सरकारी काम से जाना पड़ रहा है। कोई पीछे आए तो कह देना गए हैं।" श्रीमती ने पूछा, "कहाँ जा रहे हो ?"

कहा, "अब तुम्हें क्या बताऊँ, कहाँ जा रहा हूँ ? मुलाज़मत है यह या आफ़त है।"

बोली, "यह कैसे हो रहे हो ? पीछे कोई बात हो जाय तो बताते न जाओ। कहाँ खबर करनी होगी। और कब तक आओगे ?"

कहा, "आऊँगा पाँच दिन में और काम निबटा कर सोचता हूँ, वह ठाकुर-साहब हैं न, लालगढ़ी के, कब से कह रहे हैं। दो रोज़ वहीं हो आऊँ।"

श्रीमती ने सुन लिया और अपने काम में हो रहीं और मैं लालगढ़ी के लिए रवाना हो गया। आप कहेंगे कि यह क्या ? क्या मेरा घर ठहरना नहीं हो सकता था ? क्यों नहीं हो सकता था ? पर नहीं, वहाँ किसी क्यों को अवकाश न था। सो बेबस और अपने बावजूद घूमता-घामता में उस स्टेशन आ लगा जहाँ उतरना था। उस समय रात के दस बजे थे। सरदी के दिन थे। चन्द्रमा हाल ही निकला था। छोटा-सा स्टेशन। लालटैन लिए हुए आखिर एक आदमी ने मुझे खोज निकाला। स्टेशन से बाहर आकर मैं विस्मित हुआ अपने पर और उस जगह पर। ऐसी

भी जगह होती हैं, जहाँ उगने को कुछ उग न सके। बीरान ऐसी की भयानक ! देखो तो चारों-ओर रेत । और रेत के ढूह दूर से भूत-से दीखते थे। मालूम हुआ ठाकुर-साहब की तरफ से रथ आया है, जिसमें मेरे लिए बहुत आरामदेह बन्दोबस्त कर दिया गया है। रथ-वाले ने उसके बाद दो-एक चिलम फूँकी और अपने को तैयार किया और क्रमश: बढ़ती हुई धौली चाँदनी में रथ आगे बढ़ा। रात गहराती जाती थी, पर मुझे नींद न थी। रथ में पड़ा-पड़ा मैं चाँद की तरफ देखा किया, जो मेरे साथ-साथ चल रहा था। रथ-वाला कहता, "सो जाओ, बाबू !" और मैं उसकी निगाह के नीचे सोया सा हो जाता। पर, सरदी मीठी थी और चाँदनी भीनी थी, और आँखों में नींद सहज बसती न थी।"

चलते-चलते, चलते-चलते ऐसे कब नींद आ गई, पता न चला। पता तब चला जब रथ रुक चुका था और ठाकुर-साहब खुद मेरे स्वागत के लिए गढ़ी के दरवाजे पर मौजूद थे। जैसे-तैसे स्वागत को संक्षिप्त करके मैं कोई साढ़े-तीन बजे अपनी शैया पर आया और सोचता-विचारता सिर ढक कर सो गया। कुछ देर बाद एकाएक जगना पड़ा, ऊँघानींदी में पूछा, "कौन ?"

धीमी आवाज़ आई—"सो गए ?"

आँख मलकर देखा, "सिरहाने कोई खड़ा है। पर, दीख न सका कौन है। क्योंकि अँधेरा था।"

फिर पूछा, 'कौन ?"

"मैं लीला।"

मेरी कुछ समझ न आया। झटके से बोला, "क्या है ?"

"मैं लीला हूँ, प्रसाद ! लीला मिश्र।"

विश्वास न हुआ। कहा, "कौन तुम ?"

और मै घबराया-सा उठा।

मेरे कन्धे पर दबाव देकर वह बोली, "उठो नहीं, लेटे रहो। तुम्हें

कष्ट देने में नहीं आई। पर तुम समझते हो कि उस मरे दिल्ली में अधिवेशन की अध्यक्षता करने में आई थी? फिर तुम भाग क्यों आए?"

मैंने कहा, "यह तुम्हीं हो लीला? बैठ जाओ। बड़ी मोटी हो गई हो?"

बोलीं, "हाँ, मैं ही हूँ। चार बच्चों की माँ होके मोटी न होऊँगी? पर, एक बात तुम से पूछने इतनी दूर आई हूँ। इत्ते बरस हो गए हैं। तुमने मुझ से कभी कुछ नहीं चाहा। याद भी नहीं किया। उसकी सजा तो मैं पा ही रही थी। पर यह जो तुम चले आए हो, इससे कैसे न समझूँ कि बराबर मैं तुम्हारी याद में थी और कितना तुमने मेरे कारण दुःख पाया। यह जानकर मैं दिल्ली ठहर नहीं सकी और तुमसे माफी माँगने आगई हूँ। अब जो कहो—करूँ।" इतना कहकर लीला चुप हो गई।

और प्रसाद भी इतना कहकर चुप हो रहा।

हमने खीझकर कहा कि अरे, फिर तुमने उसे क्या करने को कहा?

प्रसाद गम्भीर होकर चुप बना रहा। थोड़ी देर बाद दृढ़ता से बोला, "इससे कहता हूँ कि नहीं, प्रेम की बात पर किसी तरह हम कुछ बोल नहीं सकते।"

आलोचना

वीरेन ने आकर कहा, "आप चलते नहीं हैं ?"

मैंने कहा, "कहाँ चलना होगा ?"

"—कान्फरेन्स में नहीं चलिएगा ?"

यह उसने इस तरह कहा, जैसे पूछता हो, "बाजार नहीं चलिएगा ?"

वीरेन अच्छा लड़का है। पर अपना पढ़ना उसे याद है। एम० ए० पास कर गया है, और थोड़ी-बहुत अविनय से डरता नहीं है।

कान्फरेन्स बाजार की दुकान नहीं है। इसमें तमाशबीन या ग्राहक की वृत्ति से जाना ठीक जाना नहीं है। लेकिन वीरेन ऐसा ज्ञानी है कि आलोचक बने बगैर उससे रहा नहीं जाता। आलोचना का काम सरल नहीं है। पर, वह काम उत्पादक भी नहीं है। मैंने कहा, "वीरेन, भाई आज किस कान्फरेन्स में जाना होगा ?"

वीरेन बोला, "आज अच्छी चीज की कान्फरेन्स है। सोशलिस्ट कान्फरेन्स है। और वहाँ यह बात नहीं है कि सब देसी-नागरी बोलने वाले मिलें। यहाँ पढ़े-लिखे लोग भी आयेंगे, जो अँगरेजी में बोलेंगे और सेन्स बोलेंगे।"

मैंने मिर्जई बदल ली, सोटा लिया और कहा, "अच्छा भाई, चलो।

हम अँगरेज़ी जानते हैं, सो उसका दण्ड भी तुम्हारे साथ भुगतना होगा कि कान्फरेन्स में जायँ और सुनें ।"

वीरेन हर विषय पर कुछ कथन रखता है । वह राय अपनी बनाता है । जो समझ में नहीं आती, चाहे वह बाबा की बात हो, चाहे गुरु की, चाहे शास्त्र की, वह हिम्मत रखता है कि उसे अस्वीकार कर दे । मैंने कहा, "वीरेन, तुम तो संस्कृत भी जानते हो, हिन्दी के लेखक भी हो । सोशलिस्ट के लिए कोई हिन्दी शब्द तो बनाओ । अन्यथा सोशलिस्ट शब्द के भाव के मूल तक हमसे नहीं पहुँचा जाता ।"

वीरेन ने कहा, "समाजवाद, साम्यवाद—ये शब्द तो हैं । हाँ, सोशलिज्म से अलबत्ता यह हलके हैं । और पण्डित जी, आप तो अँगरेज़ी के इतने बड़े पण्डित होकर मेरा मज़ाक करते हैं ।"

पर मज़ाक की बात नहीं थी । अँगरेज़ी शब्द की मूल प्रकृति हमारे निकट कुछ परदेसी-सी ही रहती है । यों, अँगरेज़ी बोल-लिख लेते हैं तो क्या ।

हमने पूछा, "क्यों भाई, तुम सोशलिस्ट हो ?"

वीरेन की मौज यही है कि वह श्रद्धापूर्वक कोई मतावलम्बी नहीं है । उसने कहा, "नहीं, साहब, मैं किसी इज्म में नहीं हूँ । मैं बँध नहीं सकता । हरएक इज्म मेरे लिए एक साइन्स है । और सोशलिज्म ? हा-हा ! आप जानते हैं क्या ? एक बार एक विद्वान् सोशलिस्ट मिले, तब बात करते हुए मैंने कहा—तुम धोती-बण्डी के ऊपर और घुटे सिर पर एक बहुत बड़ा, बहुत ऊँचा और बहुत अच्छा हैट पाकर जमा लो, और कहते-कूदते फिरो कि देखो, क्या बढ़िया हैट है, तो हैट का बढ़ियापन मालूम होने से पहले लोगों को तुम्हारी अक्ल का बढ़ियापन ही मालूम होगा । हैट प्रशंसनीय होकर भी तुम उपहास्य होगे । यह सुनकर मेरे प्रतिपक्षी सोशलिस्ट महाशय बड़े खफ़ा हो गये ।

मैंने कहा, "वीरेन, तुम किसी के प्रयत्न को दूकानदारी के अलावा

क्या कुछ और नहीं समझ सकते ? क्या नेकनीयती का श्रेय किसी को देना तुम्हारे लिए दुष्कर है ? व्यक्ति का आदर तुम्हारे लिए कठिन है ?"

वीरेन ने तपाक से कहा, "पण्डित जी, वे लोग पुराने होंगे, जो ईमानदार होते होंगे। अब ईमान उत्तर है तो सफलता दक्षिण। यह कान्फरेन्सें, यह सोशलिज्म, यह काँग्रेस, यह देशभक्ति—सब बातें हैं। सब शगल, सब व्यवसाय।"

वीरेन जब इस तरह की बातें कहता है, तब लगता है कि उसने दुनिया के भीतर के तत्त्व को पा लिया है। जैसे दुनिया की नस-नस उसने देख ली है। हमें साठ बरस के होनेपर भी ऐसा अविश्वास करना नहीं आया। और वीरेन की क्षमता देखो कि भरी जवानी में विश्वास को धता बतला सकता है। उससे ईश्वर की बात करके देखो, वह झट बता सकेगा कि किन चालाक आदमियों की चालाकी का प्रतीक यह ईश्वर खड़ा है और कैसे यह ईश्वर रग-रग में मिथ्या है।"

* * *

सड़क पर चल रहे थे कि पास से एक बढ़िया इक्का गुज़र गया। (यह पटने की बात कहता हूँ।) घोड़े के सिर पर कलगी लगी थी, गर्दन में बसन्ती दुपट्टा बँधा था, माथे पै बड़ा लाल टीका। इक्का फैन्सी था और जगह-जगह लगी हुई पीतल चमचमा रही थी। सरपट चाल से वह निकला और मेरी आँखें अनायास उसकी ओर उठीं। दो स्त्रियाँ उस पर बैठी थीं। स्त्रियाँ उन्हें कहूँ कि रमणियाँ! उम्र दोनों की बीस के लगभग होगी। रंग सांवला, आकृति में बुद्धि-प्राचुर्य न था। खादी की केसरिया साड़ी थी और कत्थई पाड़। सिर तीन-चौथाई खुला था और बाल घने होकर फैले थे। एक की ओर मेरा ध्यान विशेष रूप से गया। अगले हाथ की हथेली पर अपना सारा बोझ दिये वह उन्मन, प्रगल्भ ऐसी बैठी थी कि उसे न दुनिया की परवा है, न दुनिया के कहने

की। दुनिया है तो हो, रहे, उससे उसका कुछ नहीं ग्रटका है। ग्रांखें उसकी भरपूर खुली थीं। माथे पर एकाध बल था। ग्रौर जैसे उस त्योरी का सम्बन्ध किसी वस्तु-विशेष या परिस्थिति-विशेष से न था, प्रत्युत मानो वह ब्रह्माण्ड-भर के लिए था, ग्रौर किसी के लिए न था।

इक्के वाला, जिसका साफा बूँदीदार था ग्रौर पहलवानी तरीके से बँधा था, पैर की घण्टी बजाता हुग्रा, कोई तराना गुनगुनाता, सरपट बेखटक इक्के को लिये जा रहा था।

यह दृश्य मेरे मन को प्रीतिकर न हुग्रा। वह भीतर को सँकुच-सा ग्राया। जी में ग्लानि-सी हुई। यह खद्दरधारिणी महिलाएँ हैं ? यह देश-सेविकाएँ हैं ? ये कहाँ जा रही हैं ? ये क्या चाहती हैं ? सबको क्या पैरों-तले देखे-बिना इन्हें चैन नहीं है ? क्यों ये विजय की चाह के पीछे ऐसी परेशान हैं ?

वीरेन ने कहा, "देखा ग्रापने ?"

मैं चुप रहा। मैंने देखा था, लेकिन मेरे लिए यह वाचाल होने की बात न थी।

वीरेन बोल उठा, "उसने स्त्री-शिक्षा पर बहुत-कुछ कहा। उसे खेद न था। वह राष्ट्र को धन्यवाद दे सकता था कि स्त्रियों में जागरण हुग्रा है; कि स्त्रियाँ पुरुष को चुनौती दे सकती हैं; कि वह निर्भीक निःशंक, हाँ, निर्लज्ज भी होकर, ग्रपनी ग्रहंता का सिक्का जमाने सामने ग्राई हैं।"

वीरेन चाहे जो कहे, मेरा जी भीतर-भीतर छोटा हो रहा था। स्त्रियाँ लंगर कसकर पुरुष से बदने मैदान में ग्राना चाहें, तो बेशक क्यों न ग्राएँ ? रोकने वाला मैं कौन ? लेकिन वे खम ठोककर बदाबदी करने ग्राना चाहें, इसी पर मुझे क्लेश होता है। वह परिस्थिति नहीं भली है, ग्रौर वह मनोवृत्ति नहीं शुभ है, जहाँ से यह चाह बनकर उठती है।

ये लड़कियाँ !—ग्रौर मेरे लिए स्त्रियाँ सब लड़कियाँ हैं। उम्र में बहुत ग्रशक्त हूँ इसलिए नहीं, पर कौन स्त्री ऐसी है, जो बच्ची नहीं है?

स्त्री-मात्र बच्ची है, अपने मन से खेले बिना उसका जी आधा रहता है। वह सदा बेचारी है, मुझे उस पर अनुकम्पा होती है। वे लड़कियाँ!— मैं याद करता हूँ, और मेरा मन बिगड़ता-सा है।

शिक्षा यदि विनीत न बनाए, तब भी क्या वह मिलनी ही चाहिए? तब भी क्या वह शिक्षा है? जो उलझन पैदा करे वह भी शिक्षा है? जीवन सरल न बने, सुलझा न बने, व्यर्थता के आडम्बर का लालच रहे और बढ़े, तो वह शिक्षा है?

इसी तरह की बहुत-सी बातें मैं सोच गया। मुझे मालूम हुआ, हम बढ़ नहीं रहे हैं, गिर रहे हैं। और इस तरह यह खुले-मुँह और मुखर-बुद्धि, शिक्षिता कहलाने वाली हमारी लड़कियाँ इसका प्रमाण हैं।

* * *

पर, कान्फरेन्स...

कान्फरेन्स हुई और भाषण हुए और प्रस्ताव हुए और मैं दंग रह गया। वक्ता लोग धारा-प्रवाह वक्तृता दे सकते थे, और यह बात तनिक उनकी अँगरेज़ी में हिचक न डाल पाती थी कि सुनने वालों में से आधे से अधिक लोग अँगरेज़ी नहीं समझते। और वे आधे से अधिक लोग भी मुग्ध और विश्वस्त थे कि बात मर्म की और ज्ञान की कही जा रही है, क्योंकि वह अँगरेज़ी में है। मै अँगरेज़ी जानता हूँ, लेकिन कान्फरेन्स में लोग भूलकर भी बात नहीं करते थे, भाषण ही करते थे और मुझे ऐसा मालूम होता था कि उनके मुँह में से पुस्तक शुद्ध और साफ बोल रही है, हृदय नहीं बोल रहा है।

वीरेन ने कहा, "पण्डितजी, सुनिए। बात तारीफ़ की यह कि बात बड़ी नहीं है, फिर भी बोला किस बड़प्पन के साथ जा सकता है।"

मैंने कहा, "यहाँ भीड़ बड़ी है। दम घुट आया, चलो बाहर चलें, कुछ जल-पान करेंगे।"

और मै बाहर आ गया। वीरेन व्याख्यान सुनता रहा। बाहर आकर

मैनें खुली साँस ली। हवा में वक्ताओं की वाणी-सा जोश नहीं था, और मुझे यह प्रीतिवर्धक जान पड़ा।

इतने ही में दो कालेज के-से लड़कों ने मेरे पास आकर विनय-पूर्वक प्रणाम किया। उन्होंने कहा, "पण्डितजी, आइए, चलिए अन्दर बैठिए।"

मैंने कहा, "मैं अभी अन्दर से आया हूँ, कहो, तुम लोग प्रसन्न तो हो?"

इतने में एक तीसरा व्यक्ति एक कुरसी उठा लाया, कहा, "पण्डित-जी, इसपर बैठिए।"

मैंने कहा, "भाई, कष्ट न करो, हम ठीक हैं।"

युवकों ने पूछा, "पण्डित जी, आप की क्या सम्मति है? सोशलिज्म के बिना कुछ हो सकता है?"

हमने कहा, "भाई, हम पहले समझते थे, ईश्वर के बिना कुछ नहीं हो सकता। अब यह बात ग़लत होती जाती है। जो खूब करने-धरने-वाले हैं, वे ईश्वर-पूर्वक तो कुछ नहीं करते हैं। इसलि अब हम क्या कहें कि किस के बिना क्या नहीं हो सकता।"

युवकों ने बताया, "जनसंख्या का पिचानबे प्रतिशत अंश क्या है? निर्धन, मज़दूर, कृषक। मनुष्य-जाति का भला, यानी इनका भला। जिसमें इनका भला नहीं, उस में अवश्य मनुष्य-जाति का अकल्याण है। इसलिए अधिकार किस का हो? शासन किस का हो? सरकार किस की हो? बुद्धि-जीवियों की नहीं, धनाढ्यों की नहीं। काम करनेवालों के हाथ में पैसा हो, उन्हीं के हाथ में ज़मीन, उन्हीं के हाथ में कानून बनाना और उन्हीं के हाथ में क़ानून पालन करना,—यह सोशलिज्म चाहता है। कोई भी नेकनीयत आदमी यह चाहने से कैसे बच सकता है, क्यों पण्डित जी?"

हमने कहा, "ठीक है, बेटा। हम यहाँ ज़रा हवा के लिए आ गये हैं। हमें किसी बात की आवश्यकता नहीं है। तुम लोग हमारे पीछे व्याख्यान सुनने में क्षति डालना आवश्यक न समझना।"

उन्होंने कहा, "नहीं-नहीं, पण्डितजी।"

और वे फिर मुझसे चाहने लगे कि मैं कहूँ सोशलिज्म मिथ्या है; नहीं तो मानूँ सोशलिज्म मोक्ष है।

मैंने कहा, "देखो भाइयो, बहुत से 'इज्म' हैं। या तो मनुष्य इज्मों के ऊपर है, या नीचे है। नीचे है, तो वह गुलाम है। और गुलामी से आदमी को छूटना चाहिए। ऊपर है तो यह अर्थ कि इज्म एक वाद है, अपेक्षा-कथन है, और मनुष्य को उस अपेक्षा को न भूलना चाहिए, जो उस वाद में प्रतिफलित है।"

उन्होंने ज़िद की कि मुझे प्रश्न से बचना नहीं चाहिए, और मुझे बताना होगा कि मैं सोशलिस्ट हूँ या नहीं हूँ।

मैंने कहा कि मैं आदमी अपने ढँग का रहना चाहता हूँ। इसलिए सोशलिस्ट भी अपने ही ढँग का होऊँगा। किताब में जो ढँग वियुक्त है, उस साँचे का सोशलिस्ट शायद मैं न होऊँ।

वे जवान लोग मुझ से एकदम उलझना चाहते हैं। और दलील में मुझ में कट्टरता नहीं है इससे, मुझे जीत का भरोसा नहीं रहता। मैं इसलिए दलील से बचता हूँ। मैंने इधर-उधर देखा कि कहीं कुछ खाने-पीने का साधन है या नहीं। इस तरह मुझे उखड़ा हुआ-सा देख जवान लोग मुझे धीरे-धीरे अकेला छोड़ गये।

तभी मैंने देखा कान्फरेन्स के हाल की बाईं तरफ़ से वही दो लड़कियाँ चली जा रही हैं। चाल अनमनी है, और चेहरे पर वही उपेक्षा का भाव है। मानों वे किसी निर्जन स्थान में घूम रही हैं। आस-पास तरह-तरह के आदमी हैं, तरह-तरह के रंग हैं—मानों इससे उन्हें कुछ वास्ता न था, इसका कुछ बोध न था।

मेरे मन में वही वितृष्णा फैलने लगी। फोकापन-सा छा आया और वैसे ही अप्रीतिकर विचार उठने लगे।

पैरों में उनके चप्पल थी, सिर उघड़ा-सा था, धोती सादी और भारी थी, मुँह पर उदासी और अँधेरा। और सारी आकृति और चाल में

कुछ ऐसा फक्कड़पन और अल्हड़पन था कि मुझे बिलकुल नहीं भा रहा था। जैसे उनकी रुचि योग्य न मैं हूँ, न कोई और है। जैसे उन्होंने अभी से सब देखा और सब हेय है। जैसे वे स्वयं स्त्री हैं, यह विश्व पर कृपा है। और वे इस कृपा का दान भी कर सकती हैं, पर जगत् में पात्रता नहीं है। पर देखो, किसी से उनका लगाव नहीं, किसी से वास्ता नहीं, किसी की तरफ़ ज़िम्मेदारी नहीं, कोई कर्त्तव्य नहीं ! जैसे छूटी जंगली गायें हों।

मैंने चाहा, में उनकी ओर से मुँह फेर लूँ। उनको देख कर जी का चैन उड़ता था। मैंने देखा, दूसरी तरफ खोमचे वालों की दूकानें हैं। उनके फैले माल की तरफ देखना अच्छा लगता है। वहाँ कुछ है, जो सुस्वादु है, और मानों हमारा स्वागत करता है। लेकिन मेरा मन, हठ-कर, उधर-ही-उधर जाता था। हठात् मैंने मुड़ कर देखा—वे निरुद्देश्य, निर्व्याज, निश्शंक, निर्लज्ज उसी भाँति घूम रही थीं। वे कुछ दूर आती थीं, फिर लौट जाती थीं, फिर आती थीं, फिर लौट जाती थीं।

...क्या ये यों ही हैं ? क्या इन्हें कुछ काम नहीं है ? क्या इन्हें घर प्राप्त नहीं है, कि कुछ झाड़-बुहारी करें, चौका-बासन करें ? क्या इन्हें कोई और प्राप्त नहीं है जिसकी सेवा-टहल करें, परिचर्या करें ? क्या सेवा-कर्म इन्हें दुर्लभ है ? क्या रोटी से ये बेफिक्र हैं ? इस प्रकार देखना और घूमना—क्या यही इन्हें शेष है ?...अरे, ये क्यों नहीं अपने घर में हैं ? क्यों इस तरह यह निष्प्रयोजन बनी हैं ?...

तभी स्थानीय पब्लिक-कालेज के एक प्रोफेसर बढ़ते हुए आये। उन्होंने कहा, "वाह पण्डित जी ! आप भी पधारे हैं ? आइए, आइए, अन्दर बैठिए।"

हमने कहा, "हम बाहर ही ठीक हैं।" और बातचीत होने लगी।
प्रसंग-प्रसंग में उन्होंने पूछा, "आपने ताजी खबर सुनी है ?"
हमने बताया, "हमने नहीं सुनी। कोई भी खबर जब तक ताजी

रहती है, हमारे पास तक आना कभी गवारा नहीं करती। हम तो इस दुनिया में कई दिन लेट होकर जिया करते हैं।"

प्रोफेसर ने बताया, "धरणी को आज सवेरे फाँसी लग गई। हिन्दुस्तान के जी की चोट की किसे फिकर है? सब कोशिश, सब प्रदर्शन, सब अरदास व्यर्थ हुई।"

मैं सुनकर सन्न रह गया। यह नहीं कि हमारे प्रान्त का हर व्यक्ति महीनों से धरणी की फाँसी की खबर सुनने के लिए तैयार न रह रहा था। फिर भी जब वह एकदम घटित घटना बन कर आई, तब उसकी भीषणता बेहद चोट देकर लगी। धरणी मुझ से पढ़ चुका और अच्छा छात्र था।

बात-बात में फिर प्रोफेसर ने बताया, "देखिए, वे दो स्त्रियाँ दीखती है न, जानते हैं, कौन हैं? इधर वाली उसकी पत्नी है, दूसरी उसकी बहिन। दुनिया में अब उनका कौन रहा है!"

मेरे मन पर जैसे वज्र पड़ा।—धरणी की पत्नी और बहिन!

...और, मैं कह दिया करता हूँ, वीरेन आलोचक है!

क्या हो ?

जब दिनकर को फांसी की सजा सुनाई गई, तब उसने जज की ओर मुस्करा कर कहा, "थेंक यू ।" लेकिन शाम को अपनी अकेली कोठरी में सोचने लगा कि इसमें हँसकर 'थेंक यू' कहने की बात नहीं है । कोई यदि यह निर्णय दे देता है कि कुछ दिनों के बाद मुझे जीना नहीं होगा, तब क्या उस निर्णायक का उस निर्णय के लिए कृतज्ञ होना चाहिए ?...क्या मुझमें कृतज्ञता है ? क्या मुझमें खुशी है ? तब मैंने क्यों यह झूठा आचरण किया कि मैंने जज को धन्यवाद दिया ? धन्यवाद मुझ में न था ।...लेकिन क्या यह है कि रोऊँ नहीं, इसलिए मैं हँसा ? मैं समझता हूँ, यह भी ठीक बात नहीं है । रोने की भी कोई जरूरत इस समय मेरे भीतर नहीं है । यह ठीक है कि निर्णय में मात्र इतना ही नहीं है कि अमुक तिथि तक मैं जीऊँ । जीवन उस तिथि तक चुक जाय, और फिर मौत सरकती हुई आ जाय, व्यवस्था इतनी ही नहीं है । व्यवस्था यह भी है कि मैं मारा जाऊँ, गले में फन्दा अटकाकर मेरी जान मुझ में से खींच कर तोड़ ली जाय । यह बात, अगर मैं कहता हूँ सुख की है, तो झूठ कहता हूँ । यह सुख की बात हो सकती थी कि अमुक क्षण के बाद मैं पाऊँ—मैं नहीं जी रहा हूँ । लेकिन जीते-जी मार दिया जाऊँ, (और फांसी और क्या है ? और हत्या भी और क्या है ?) यह सुखकर बात नहीं है । इसको तो सामने

देखकर वितृष्णा ही होती है। या हाँ, उन्मत्त, अन्धा आकर्षण हो सकता है। किन्तु मुझे आकर्षण नहीं है। मुझे वह समूची वस्तु कुछ मैली मालूम होती है, अपावन, अशुचि, असुन्दर। मैं उस ओर देखना नहीं चाहता हूँ।...तो क्या जी फिर रोने को आता है ? नहीं, मेरे भीतर अभी तक इस फाँसी की बात को लेकर तनिक भी रोना नहीं आ सका है। मैंने कुछ किया। मैं जानता हूँ, मैंने वह किया। वह करते समय भी मैं जानता था कि उसके अन्त में यही चीज हो सकती है, फाँसी !, जिस को मैं अब भी ठीक नहीं जानता कि क्या है। इस फाँसी के परिणाम के व्यापक भाव के इतने भाग को मैं जानता था कि जिन से मैं बोलता हूँ, मिलता हूँ, जिन से प्रेम लेता और जिन को प्रेम देता हूँ, जिनके भीतर अपने को फैला कर और जिन्हें अपने भीतर धारण करके मेरा जीवन सम्भव बना चलता है; वे सब मेरे लिए न रहेंगे, मैं उनके लिए न रहूँगा।...मैं उनके लिए न रहूँगा ! तब क्या कोई होगा जिसके लिए रहूँगा ? नहीं-नहीं, बिलकुल तिरोहित, अशेष, असत् हो जाऊँगा। विश्व के चेतना-पिण्ड में कोई मेरे व्यक्तित्व के अस्तित्व का भास या विधाता के बहीखाते में कोई हिसाब शेष रहे भी तो उस शेष रहने को किस तरह की गिनती में रक्खा जा सकता है ? इस सर्वतोभावेन तिरोभाव होने की सम्भावना को मैंने तब भी सामने रक्खा। अब भी सामने वही है। इसलिए घबराहट मुझ में भीतर से कोई नहीं होती।....मात्र इतना ही है कि फाँसी स्त्रीलिंग पाकर भी सुस्वरूपा नहीं है। आकार-प्रकार में असुन्दर वस्तु है। इससे उस ओर देखना कुछ प्रीति-वर्धक नहीं होता।

किन्तु अब तक, जीवन के इस निश्चित छोर पर आ लगने तक, मैंने अपने ही को माना है। जो समझा है, किया है। उसके करने से भी नहीं बचा हूँ, उसके परिणाम से भी नहीं बचा हूँ। मुझे अपने में खेद नहीं है; पर अब आकर मुझे यह बोध हो रहा है कि क्या मैं बिलकुल अपना ही था ? जिन्होंने मेरे साथ आशाएँ और प्रत्याशाएँ बाँधीं, भविष्य बाँधा, प्रेम बाँधा, अपना जीवन ही बाँध लिया; जो मेरी आस को लेकर जीते

थे और जिनकी आकांक्षाएँ मेरी ओर ही आँख बिछाए बैठी रहती थीं, उनका भी तो मुझ में कुछ था। उन लोगों को मैंने अपना क्या दिया ? जिसे हक समझा, आदर्श समझा, उसी का सब-का-सब क्या मैं न हो रहा ? किन्तु इन लोगों को क्या मेरा कोई भाग प्राप्य नहीं था ? यदि मैंने अपने को उनके प्रति विसर्जित नहीं किया और जीवन के धागे को बीच से ही काट कर झट् उसके परले किनारे आन बैठा, तो क्या मैंने अपना कर्म पूरा किया ? क्या उचित किया ?

माना, देश है। माना, आदर्श है। माना, भारत-माता भी है। और मान लिया, गुलामी की बेड़ियों को तोड़ना भी कुछ है। लेकिन अपनी सगी माँ अपनी क्या कुछ नहीं है ? बाप कुछ नहीं है ? भाई कुछ नहीं है ? और वह बेचारी अबोधा कच्ची हरियाली-सी पत्नी कुछ नहीं है ?

मैंने कहा और मैं कहता हूँ, मुझे खेद नहीं है। पछतावें जो पछतावें। मैं अकम्प हूँ। लौटना मैं नहीं चाहता। लौटने-जैसी चीज साथ लेकर मैं नहीं चलता। फाँसी आती है तो आती रहे। मुझे उस तरफ से बेफिकरी है। मुझे क्षण के लिए भी माँगना नहीं है कि—'अरी तू ठहर। मुझे इतना यह और कर लेने दे।' मेरे मन में तनिक भी जिज्ञासा नहीं है कि 'अरी क्यों, तू लौट नहीं सकती ?' मैं अपने भाग्य से कोई सवाल-जवाब नहीं करना चाहता। मैं चुनौती देकर चलता हूँ। मैं कहता हूँ, मैं यह हूँ। अब भविष्य अपना जाने कि उसे क्या होना है। भविष्य का जो भी विधाता हो, मुझे उसके समक्ष कोई प्रार्थना नहीं है। मैं बस अपने वर्त्तमान का विधाता हुआ चलता हूँ। आगे से मुझे मतलब नहीं है। आगे फाँसी है कि स्वर्ग, जानने का मेरा कोई सरोकार नहीं है। इसलिए मैं कहता हूँ कि फाँसी की कोठरी में हूँ, इसमें कोई गलत बात मैं नहीं पाता। मैं इतना जानता हूँ कि, जो समझता हूँ, करता हूँ। जो पुरस्कार आता है, वह आ जाय। जो दण्ड आता है, वह आ जाय। मुझे यह भी जानने से क्या वास्ता कि यह दण्ड है अथवा पुरस्कार ? कि विधना रुष्ट है कि तुष्ट ?

लेकिन, बात लौटने की नहीं है। जब कि कहता हूँ कि पत्नी के, माता के, पिता के, भाई के प्रति मैंने अपना दान नहीं किया, तो अभिप्राय यह है कि मैं किसी के लिए खपा नहीं, विसर्जित नहीं हुआ। मैंने अपने को बचाया। या हो सकता है, मैंने अपने को वारा नहीं, खोया। राष्ट्र पर मैंने अपने को दे डाला; पर राष्ट्र क्या है? आदर्श पर मैंने अपने को वारा है; पर वह आदर्श क्या है? वह राष्ट्र और वह आदर्श क्या इतनी तुच्छ वस्तुएँ हैं कि पत्नी को उससे बाहर ठहरना होगा? माता, पिता, भाई— ये सब उसकी परिधि से बाहर रहेंगे? क्या उस की परिधि इतनी सँकरी है?

ठहरो, इन बातों से कुछ नहीं उठना है। लौटना व्यर्थ है, दुष्कर है, मुझे अमान्य है। तब जो मैंने नहीं किया, वह क्यों सोचता हूँ? बहुत कुछ है, जो मैं करता, पर नहीं किया। मन में अरमान क्या इसलिए हैं कि वे पूरे हों? कल्पना क्या इसलिए है कि वह सब सिद्ध हो? हम आसमान इसलिए नहीं देखते कि आसमान हम बन ही जाएँगे; लेकिन आदमी की हसरत-अरमान, उच्चाकांक्षाएँ इसलिए भी नहीं हैं कि वे आदमी को पंगु बनायें, पस्त बनायें। वे पूरी नहीं होंगी, ठीक; पर अधूरी रहने के माने यह नहीं कि वे हमें अविश्वासी पायें, विफलता और अकृत-कार्यता के बोझ से दबे पायें।

...पत्नी की अवस्था बीस वर्ष की है। पन्द्रह वर्ष की थी, जब मैं अमरीका गया। अठारह वर्ष की थी, जब लौटा। मुझे देखने न पाई थी और प्रतीक्षा में थी, कि कब मैं उसकी बनाई चाय पीने भीतर पहुँचता हूँ कि पकड़ा गया। अब वह बीस वर्ष की है और इक्कीस वर्ष की न हो पायगी कि मैं फाँसी पाकर समाप्त हो चुकूँगा!...

वह कौन है? मेरी पत्नी है। पत्नी क्या? पत्नी वह, जिसके साथ विवाह हुआ हो। विवाह! यह विवाह अद्भुत तत्त्व है। मनुष्य ने उससे बढ़कर और क्या रचा है? एक अनजान कन्या दूसरे बिलकुल

अनजान कुमार के साथ कुछ ही क्षणों में, जिस महा-अद्‌भुत मन्त्र के उच्चार द्वारा आपस में ऐसे हो जाते हैं कि वे किसी भी ओर से दो शेष न रहें, अभिन्न-जीवन हो जायें, उसको विवाह कहते हैं। उस विवाह के अर्थ हैं—मरेंगे, तो दोनों मरेंगे; जियेंगे, तो दोनों जियेंगे; सुख-दुःख, जीवन-मरण, हानि-लाभ, यश-अपयश, सब में दोनों एक-से सहभागी होंगे।...विवाह हुआ और वह कठिनाई से पन्द्रह वर्ष की कन्या मुझ में मिला दी गई।...अब मैं फाँसी की कोठरी में हूँ, वह घर में है।...

मनुष्य ने विवाह सिरजा। माना, मनुष्य और मनुष्य के बीच के सम्बन्ध की दृष्टि से विवाह से सुन्दरतर युग-युग में मनुष्य ने दूसरी कृति नहीं प्रस्तुत की; किन्तु विवाह का रक्षण जहाँ न हो सके, वहाँ? जो न कर सके, उसके लिए? उस स्थल पर और व्यक्ति के लिए भी क्या विवाह टिकेगा? क्या ऐसे समय अरक्षित को रक्षा और वञ्चित को हक पाने का कोई यत्न नहीं हो सकेगा?

मैं मरता हूँ; किन्तु क्या उस अबोधा, किशोरिका का पत्नीत्व निष्ठुर पतित्व की प्रतीक्षा करते हुए चिरकाल तक, अस्तकाल तक, पर-काल तक बैठा रहेगा? मैं अपने कामों के लिए मरा, यह मेरे काम का पुरस्कार है, या चाहे उसका दण्ड है। किन्तु, जिसको अपने जीवन के साथ तो आ मिलने दिया; लेकिन जो मेरी उन पुरस्करणीय अथवा दण्डनीय करतूतों के लिए तनिक उत्तरदाता नहीं है, वह बेचारी भी क्या उस आँच से झुलसे? मैं एक शब्द में मान लूँ कि विवाह की रक्षा मुझ से नहीं हुई। विवाह के नेम का निभाव मैंने नहीं किया। मैं अपने को उससे तुड़ाकर अब यहाँ मृत्यु के तट पर फाँसी के मल्लाहों की प्रतीक्षा करता बैठा हूँ। तब क्या वह विवाह उस नवीना को वंचिता, उस फेरों की गुनाहगार को अरक्षणीया बना रखने के लिए ही टिका रहेगा?

लेकिन विवाह भी क्या चीज़ है? विवाह ने मुझे पति बना दिया।

क्या पति का यह अर्थ था कि मैं पत्नी के प्रति एक दिन के लिए भी प्राप्य न बनूँ और बहुत जल्दी अपनी मौत को खोज लेकर उस नवोढ़ा के लिए चिर-अप्राप्य और चिर-शोध्य बन जाऊँ ? किन्तु विवाह ही तो है कि पत्नी के लिए सदा मैं ही आराध्य रहूँगा। और जब सदेह 'मुझ' को सेवा के लिए वह नहीं पा सकेगी, तब विगत-देह रूप में ही उसे अपनी पूजा मुझे भेजती रहनी होगी।

जिसने मन की भक्ति और स्नेह को इस प्रकार एकनिष्ठा के साथ अमुक एक ध्येय की ओर उन्मुख बन उमड़ते रहने और झरते रहने का उपाय प्रस्तुत कर दिया, वह मनुष्य की अनुपम कृति है—विवाह। अब यहाँ इस पार आकर मैं उस संस्था का महत्त्व देखता हूँ। वह संस्था चाहे समाज की व्यावहारिक आवश्यकता में से ही निकली हो; पर वह वर्धिष्णु भाव से मनुष्य की परोन्मुख वृत्तियों को अपने में धारण करती रही है।...किन्तु विवाह-संस्था का परिणाम अत्याचार क्यों हो ?

कुलवन्त पच्चीस वर्ष का तो होगा। वह सुषमा की तरफ़ से किनारा करता भी नहीं दीखता। इस ओर वह अनुग्रहार्थी भी हो, तो मुझे विस्मय न होगा। आखिर तो जवान है। उसे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ऊपरी सँकोच ?––सो मैं समझा-बुझा दूँगा।

लेकिन सुषमा को राह कैसे लाना होगा ? वह क्या मेरी बात भी सुनेगी ! सुने भी, तो क्या तनिक भी अपने मन पर उसे ठहरने देगी ? नहीं-नहीं, वह नहीं मानेगी। वह शिक्षिता नहीं है। बेचारी सतियों की कहानियों को पकड़े बैठी है। वह किस तरह मान सकेगी ?

पर मैं फाँसी के प्रति कितना ही निस्सङ्ग हूँ, मेरी समाप्ति का अर्थ सदाके लिए सुषमा का सुहाग पुँछ जाना यदि होगा, तो उस मौत में मुझे कलक रहेगी ही।...नहीं, वह नहीं विधवा होगी। मैं मरूँगा; किन्तु मैं उसे विधवा नहीं होने दूँगा।...

* * *

अगले रोज़ जब माता-पिता और उसके भाई उससे मिलने आए, तब लम्बा घूँघट काढ़े हुए, सिमटी-सिमटाई उसकी पत्नी भी आई। सब लोग बातें करने लगे और सुषमा घूँघट में बन्द, पीछे, एक ओर चुपचाप बैठी रही।

ऐसे समय जब कि बिदा अन्तिम होती है, तब कहने को पास कोई बात नहीं मालूम होती। जीवन के सब व्यापार मानो उस महा घटना के सामने अति तुच्छ हो पड़ते हैं। वही बात यहाँ थी। सबके मन उस समय ऐसे पककर भरे हुए थे कि मुँह किसी का खुलता ही न था। उस नीरवता के त्रास को तोड़ते हुए अन्त में दिनकर ने ही अपनी ओर से बढ़कर पूछा, "हिरिया, अब कैसी है, बाबूजी ?...और क्यों कुलवन्त, कैसे हो ?"

पिता ने कहा, "उसने पंखा दिया है।"

और कुलवन्त ने कुछ गुन-गुन किया।

बात फिर खतम होती-सी मालूम हुई। सब के मन में इतना कुछ था कि किस ओर से उसमें से किस तार को छेड़कर मन के व्यथा-पिण्ड को छिलने दें, यह किसी को सूझ न पड़ता था।

इतने में दिनकर की माँ ने सुषमा के पास जाकर भर्राए कण्ठ से कहा, "बेटी, अब बोल तो ले। अब काहे की लाज !"

सुषमा वहीं जमी रह गई। कुछ भी बोलने-बतलाने पति के पास न जा सकी।

उस समय सबके कण्ठ भर आए और सब सयत्न हुए कि उठते हुए आँसू वे भीतर ही पी जाँय, कहीं वे ढरकें नहीं।

उस समय पिता मुख ऊपर उठाकर निरुद्देश्य भाव से बोले, "ओह, तीन बज गए !" और रूमाल निकालकर बे-मालूम तौर पर आँख और नाक का पानी उन्होंने पोंछ लिया और ऊपर की ही ओर शून्य मुद्रा में ताकते रह गए।

तभी खुले-तौर पर काँपते कण्ठ से माँ ने सुषमा का हाथ पकड़कर उठाते हुए कहा, "बेटा, लाज शरम अब के घड़ी की है। तेरा भाग्य अब फूटा ही रखा है। आखिरी घड़ी मिल-बोल तो ले।" फिर भी जब सुषमा बिलकुल नहीं उठ सकी, तो माँ ने बाँह पकड़कर उसे उठाया और दिनकर के पास ला बिठाया। सुषमा वहाँ आकर सिमटती हुई ही बैठ गई।

माँ ने दिनकर से कहा, "बेटा, इस नन्ही को तो समझा। यह तो घर में भी किसी से नहीं बोलती है।"

दिनकर लौटना अब भी नहीं चाहता है। वह कर्रा ही बना है; पर मन जाने उसका कैसा-कैसा होने लगा।

उसने हँसकर कहा, "पगली है।"

माँ ने कहा, "बेटा, इस पर तो तुझे तरस करना था।"

यह सुनकर पिता बेहद अवश, कातर हो पड़े। बोले, 'कुछ बात नहीं," "कुछ बात नहीं," और अवगुण्ठनावृत सुषमा के सिर पर अपने बड़े चौड़े दायें हाथ को ला रखा। उसे सिर पर फेरते हुए कहा, "बेटा, हमारा बीरन बहादुर है, चोर-डाकू नहीं है। देखो, कितने-कितने उसकी जय बोलते हैं। वह स्वर्ग को जा रहा है। ऐसे लाल क्या सबके होते हैं? धीरज रख, मेरे बेटे, मेरे बटुए...।" यह कहते-कहते पिता के आँसू तार-तार झरने लगे। उस समय किसी के भी आँसू रोके न रुके। पर, अवगुण्ठन के भीतर की उन आँखों में क्या हुआ, यह किसी को पता न चल सका।

थोड़ी देर में दिनकर ने पिताजी को अलग ले जाकर कहा, "पिताजी, मेरी एक साध है। फाँसी के दिन से पहले-पहले सुषमा और कुलवन्त का विवाह कर दीजिए।"

पिता ने कहा, "क्या कहते हो बेटा? सुषमा को तुम नहीं जानते।"

दिनकर ने कहा, "पिताजी, मुझे कुछ भी और इच्छा नहीं है। यह नहीं करेंगे, तो मेरी गति नहीं होगी।"

पिता ने कहा, "सुषमा को तुम समझा दो बेटा, तो हमें तो खुशी ही होगी।"

थोड़ी देर में माता-पिता आदि को कुछ काम निकल आया और एकान्त पाकर दिनकर ने पत्नी से कहा, "सुषमा मेरी एक बात सुन सकती हो ?"...

ज़रूर सुन लेगी। सुनाओ, वह चुप है।

"...मैंने तुम्हें दुःख-ही-दुःख दिया।..."

वह चुप है।

"मैं कैसे कहूँ, तुम मेरी बात मानो; लेकिन मरते की एक बात यों भी मान लेते हैं। मैं अब मौत से कितनी दूर हूँ ?—"

सुषमा चुप ही है।

"मैं सुषमा, यह जानता हुआ मरना चाहता हूँ—"

अरे दिनकर, ऐसी बात धीमी चाल से नहीं, झटपट कह डालो कि एक ही घूँट में वह गटक ली जाय। कैसी कड़वी बात कह रहे हो, सो अटको नहीं; क्योंकि सुषमा चुप है और उसके भीतर मन भी है।

"यह जानता हुआ मरना चाहता हूँ कि मैं अकेला मर रहा हूँ—अकेला।"—

अरे, कहे जाओ न, कहे जाओ। सुषमा चुप है।

'अकेला। यह पक्का ज्ञान लेकर मरना चाहता हूँ कि मेरे मरने से तुम विधवा नहीं बनोगी।..."

चुप।

"कुलवन्त को तुम जानती हो..."

तब सुषमा ने घूंघट के भीतर से ही आहिस्ता से कहा, "मुझे तुम एक ज़हर की पुड़िया दे जाओ, बस।"

दिनकर एकदम भूला-सा हो गया। उसने सुना—

"बस, मुझे और कुछ न चाहिए। मैंने तुमसे क्या माँगा है ? अब माँगती हूं।"—

दिनकर के भीतर से पिण्डाकार एक घनी व्यथा उठी—वह गले तक भर आई—"मुझे फाँसी लगनी है सुषमा। आज, कल—चाहो तो अँगुली पै दिन गिना दूँ। ऐसे समय मुझ से तुम यही कह सकती हो, मेरी सुषमा ?"

दिनकर की वाणी से सुषमा भीतर-ही-भीतर काँप गई—"मेरे राजा, तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ। पर, राजा मेरे, तुम मुझे कैसी समझते हो ?"

दिनकर को इस पर एक क्षण उत्तर नहीं सूझा। रुककर उसने कहा, "कैसी समझता हूँ ? कैसी समझता हूँ ? ऐसी समझता हूँ कि ज़हर का प्याला दूँगा, उसको भी मुझे देखते-देखते खुशी से तुम पीओगी।"

सुषमा ने कहा, "यही तुम कहते हो ?"

दिनकर चुप।

"यही तुम कहते हो ?"

चुप।

"मेरे प्यारे, कहो, तुम मेरे राजा हो। और एक बार फिर कहो, यही तुम कहते हो ?"

दिनकर अपने में छोटे-में-छोटा होता गया और मानो सुषमा के स्वर ने किसी ओर उसके लिए मार्ग नहीं छोड़ा। उसने कहा, "सुषमा, मैं पति हूँ न, तब यही कहता हूँ।"

धन्य, सुषमा ने दिनकर के चरण छुए। घूँघट हट गया, बोली, "भगवान् ऊपर सब देखता है। पर मेरे लिए तो तुम हो। भगवान् मेरे लिए और कौन है, शास्तर और कौन-सा है ? तुम्हीं तो सब-कुछ हो। मेरे पास और कोई धर्म-कर्म नहीं है, मेरे मालिक !"

और घूँघट हटाकर उसने अच्छी तरह जान लिया कि इनके जीते-जी कुलवन्त से वह विवाह कर लेगी। हाँ, जीते-जी। अरे, जहर के प्याले से भी वह अब मुँह किस भाँति मोड़ेगी ? हँसकर पी डालेगी ही नहीं, स्वाद से जिन्दगी भर घूँट-घूँट पीती रहेगी।

चालीस रुपये

चालीस रुपये आये और गये। फिर आये और फिर गये। इस चक्कर में उनसे एक कहानी बन गई। उसी का वृत्तान्त सुनाता हूँ।

आप वागीश को जानते न हों, पर नाम सुना होगा। आदमी वह कुछ यों ही है। खैर, वह अपने कानपुर से इलाहाबाद जा रहा था। उतरा और तांगे पर पहुँचा तो देखता है कि एक औरत उसके पीछे खड़ी है। गिड़गिड़ा रही है और वह कुछ चाहती है। गोद में बच्चा है। मैली-सी धोती पहिने है, जिसको सिर पर खींच कर आधा घूँघट-सा कर लिया है।

वागीश (यह उसका किताबी नाम है) को इस तरह की बातें अच्छी नहीं लगतीं। उसे छीनना अच्छा लग सकता है, माँगना बुरा लगता है। एक बार कुरते की नीचे की जेब में रूमाल पड़ा था, जिसमें कुछ पैसे थे। किसी ने उसे ऐसा साफ खींच कर निकाल लिया कि क्या बात! यह वागीश को अच्छा लगा। उसकी तबियत हुई कि वह हुनरमन्द मिले तो कुछ उसको इनाम दिया जाय। आखिर यह भी हाथ की सफ़ाई है। एक बार ऐसी साफ़ जेब कटी कि क्या कहना! उसके बाद ब्लेड लेकर उसने अपने कोट पर खुद हाथ आजमाया कि वह सफ़ाई उसे भी नसीब हो। जेब किसी की काटनी नहीं है, यह दूसरी बात है। पर हाथ की

सफाई तो अपनी चाहिए ! इसलिए जनाब ने कोट को जगह-जगह से नश्तर देकर चाक-चाक कर दिया। पर आखिर तक उन्हें तसल्ली नहीं हुई कि कलावन्त की खूबी का सौवां हिस्सा भी उनकी तराश में आ सकी है। तब सोचा था, कोई उस्ताद गिरहकट मिले तो उससे हस्त-लाघव सीखेंगे।

लेकिन यह क्या कि गिड़गिड़ा कर मांगा जा रहा है। उन्होंने चेहरे को सख्त किया, कहा, "क्या है ? हटो, हटो।"

पर स्त्री हटी नहीं; बल्कि और पीछे लग गई।

तांगे में बैठते-बैठते वागीश ने झल्लाकर कहा, "क्या है ? पैसा पास नहीं है। चलो रास्ता देखो।"

तांगे में बैठकर आधे घूंघट में से उसका चेहरा दिखाई दिया। ठोडी में गोदना गुदा था। उम्र होगी पच्चीस वर्ष। बदसूरत न थी, खूबसूरत तो थी ही नहीं। नेक-चलन न होगी। और गोद के चिपटे बच्चे के सिर पर खाज के दाग थे, हाथों पर खरोंच।

वागीश ने डपट कर कहा, "चलो हटो, जाओ।"

तांगे वाले ने कहा, "चलूं बाबूजी ?"

स्त्री ने हाथ फैलाया, बोली, "तुम्हारी औलाद जिये बाबू। धन दौलत मिले। बच्चा भूखा है। उसका बाप नहीं है....!"

"तो मांगती क्यों है ? काम कर ! यह तांगा क्यों पकड़ रखा है ? छोड़ हट।"

"क्या काम बाबू ? तुम्हारे औलाद-पुत्तर जीयें !"

"काम करो—काम। हराम का नहीं खाते हैं।"

इस हराम और काम के सिद्धान्त को वह खुद नहीं समझ पाता था। इससे जूते के अन्दर बंधे उसके पैर स्त्री ने पकड़े तो संकट में उन्हें पीछे खींचते हुए वह घबरा कर बोला, "हें, यह क्या करती हो ? बोलो, काम करने को तैयार हो ?"

स्त्री ने कहा, "हाँ, बाबू।"

उस समय वागीश जैसे अपने से ही घिर गया। कह पड़ा, "तो चलो मेरे साथ, तुम्हें काम मिलेगा।"

: २ :

दो रोज़ के लिए इलाहाबाद आया। मित्र ने पूछा कि यह क्या नये क़िस्म का सामान अपने साथ ले आये हो, तो वागीश कोई ठीक समाधानकारक जवाब न दे सका। कहा, "उससे चक्की पिसवाओ जी। सब कामचोर होते हैं! चक्की सामने देख कर अपना रास्ता लेगी।"

मित्र को लगा तो विचित्र, पर वागीश ही विचित्र था। मित्र ने कहा, "वागीश! तुम हो अजब कि अपने पीछे बला मोल लेते फिरते हो।"

वागीश ने कहा कि मोल कहाँ लेता हूँ। मोल में कुछ देने को हो तो भी क्या फिर बला ही लूँ? पर बिना मोल जो सर पड़े, उसका क्या हो? देखो मां और बच्चे के लिए एक धोती कमीज ठीक-सी निकलवा दो और उनके कपड़े आग के हवाले करने को कह दो।

खैर, इस तरह पहला दिन बीता। नये कपड़ों में वह स्त्री भी नई हो आई और काम से उसने जी नहीं चुराया। आठ सेर गेहूँ उसने पीसा, जिसकी मजदूरी वागीश ने दो आने दी। कुछ उसने चर्खा काता, कोठी में झाड़ू दी और थोड़ा-सा बच्चों का काम भी सम्भाला।

वागीश को इस पर गुस्सा हुआ। समझता था कि एक बार आवारा हुआ उससे काम फिर होना-जाना क्या है? इसलिए झक मार कर यह आप ही भाग जायगी। चलो, झंझट छूटेगा। इसका उसे विश्वास था। वह विश्वास ठीक नहीं उतरा, तो वह मन-ही-मन उस औरत से नाराज़ हुआ।

अगले सबेरे बरामदे के बाहर आराम कुर्सी पर बैठा था। हाथ में अख़बार था, यद्यपि पढ़ नहीं रहा था। मन उस वक्त खाली था। कल

की बात का उसे ख़याल आता था कि काम करना चाहिए। हराम का नहीं खाना चाहिए। कल से आज तक जो उसने किया वह काम है कि हराम है, यह ठीक तरह उसकी समझ में नहीं आ रहा था। कल उसने शाम को मोटर में जाकर कुर्सी पर बैठ कर डेढ़ घण्टे तक एक सभापतित्व किया था। अन्त में कुछ बोला भी था। इस कष्ट के लिए उसे बहुत धन्यवाद मिले थे। वह काम है कि हराम है, यह जानना चाह रहा था। वह स्त्री बरामदे में झाड़ू दे रही थी। अकारण वागीश ने गुस्से से कहा, "यहाँ आओ।"

स्त्री ने मुँह ऊपर किया, प्रतीक्षा की और फिर मुँह नीचे डाल कर झाड़ू में लग गई।

वागीश ने 'यहाँ आओ' कहने के साथ उधर मुँह फेरने की ज़रूरत नहीं समझी थी और रोष-भाव से सामने के बगीचे को देखता रहा था। उत्तर को कोई पास नहीं आया तो उसने और भी धमकी से कहा, "सुना ? इधर आओ !"

इस पर झाड़ू छोड़, धोती सिर पर सँभालती हुई वह स्त्री पास आ गई। घूँघट इस बार अतिरिक्त भाव से आगे था। वागीश को बुरा लगा। उसके मन में हुआ कि यह पर्दा ही ऐबों को ढकता है। बोला, "तुम अब क्या चाहती हो ?"

स्त्री आँखें नीची करके और उसके आगे धोती की कोर को एक हाथ से तनिक थामे चुप खड़ी रही, जवाब नहीं दिया।

"बोलो, क्या चाहती हो ? अब तुम जा सकती हो।"

स्त्री ने फिर कुछ जवाब न दिया।

वागीश ने कहा, "देखो, मैं कल यहाँ से चला जाऊँगा। वह मेरा घर नहीं है, तुम देखती ही हो। इसलिए तुम यहाँ से आज शाम तक जा सकती हो।"

जब देखा कि स्त्री अब भी कुछ जवाब नहीं देती है तो वागीश ने

कहा, "दूसरों के सिर पर पड़ना ठीक नहीं होता, न भीख माँगना ही ठीक होता है। तुम्हारे बदन में कस है और तुम काम कर सकती हो। आवारा फिरते तुम्हें शर्म नहीं आती ? कहीं नौकरी देख सकती हो। मैं यहाँ से कल चला जाऊँगा।"

स्त्री फिर भी चुप रही। इस पर वागीश ने कड़क कर कहा, "खड़ी क्यों हो ? सुन लिया; अब जाओ, काम करो।"

यह कहकर उन्होंने अखबार खोला और स्त्री झाड़ू देने लगी।

उस रोज़ स्त्री ने ग्यारह सेर आटा पीसा, घर के कुछ कपड़े भी धोये, झाड़ू भी और ऊपर चर्खा भी काता।

यह सब-कुछ वागीश को खुश करने की जगह उलटे नाराज़ करता था। औरत उसके हिसाब के मुताबिक फ़ाहिशा, कामचोर और तेज़ ज़बान निकलती, तो उसे सन्तोष होता। सबेरे की अपनी बात-चीत के पीछे उसके मन में कोमलता आई थी। सोचा था कि दो-एक तसकीन की बात उससे करेंगे। पर दिन में फ़ुर्सत नहीं मिली और शाम को आया तो मालुम हुआ कि स्त्री ने दिन-भर मुस्तैदी से काम किया है, बस इस एक बात से उसका मन बिगड़ गया। उसे बुलाकर ताकीद से कहा, "सुना न तुमने कि मैं कल जा रहा हूँ ? तुम्हें जो चाहिए सो कहो और मेरे दोस्त का पिण्ड छोड़ो। उन्होंने तुम्हारे खाने-पहिनने का कोई जिम्मा नहीं लिया है ! आज आटा पीसा ?"

स्त्री चुप रही।

"सुनती हो; पीसा कि नहीं ? कितना पीसा ?"

धीमे से स्त्री ने कहा, "दस सेर !"

आटा पूरा ग्यारह सेर तुला था, यह भाभी जी से वागीश को मालूम हो चुका था, भाभी जी अधूरा काम नहीं करती थीं। साढ़े-ग्यारह सेर कह सकती थी। पर स्त्री ने बताया दस सेर ! सुनकर वागीश को गुस्सा चढ़ आया। कहा, "दस सेर ! कुल दस सेर ? दिन-भर क्या करती रहीं ?"

स्त्री को चुप देख, कुछ देर बाद कहा, "खैर, यह लो ?"—कहकर ग्यारह पैसे मज़दूरी के उसकी हथेली पर रख दिये। पूछा, "और चरखा ?"

"काता था।"

"उसकी मज़दूरी कितनी हुई, बतलाओ ? मुझे कल चला जाना है।"

स्त्री चुप रही तो धमकाकर कहा, "बतलाती क्यों नहीं हो ? गरीब से मैं कोई मुफ्त मेहनत नहीं ले सकता।"

काफ़ी धमकाया गया तो स्त्री ने कहा, "जो आप जानें।"

वागीश ने चार आने निकालकर दिये। कहा, "यह तो वाजिब से ज्यादा ही है।"

स्त्री ने इस पर एक इकन्नी वापिस लौटाते हुए कहा, "तीन आने बहुत हैं।"

वागीश को बहुत बुरा लगा। बोला, "गरीब की मेहनत खाने वाला इस घर में कोई नहीं है; अपने पास रखो। अच्छा, दो दिन तुमने यहाँ काम किया है, उसका क्या हुआ ?"

स्त्री चुप रही। वागीश ने ज़ोर से कहा, "बताती क्यों नहीं हो ? क्या हुआ ? जैसे बड़ी रईसज़ादी हो।"

स्त्री धीमे से बोली, "मुझे यहाँ खाना-कपड़ा..."

वागीश ने डपटकर कहा, "चुप रहो। खाना यहाँ मोल नहीं बिकता। बस, चुप। ठीक बोलो, दो दिन का तुम्हारा क्या हुआ ?"

वह कुछ नहीं बोली। कुछ देर जैसे वह भी अनिश्चय में रहा; फिर कहा, "अच्छा, वह चार आने मुझे देना तो।"

स्त्री ने पैसे वापिस कर दिये। वागीश ने एक रुपया निकालकर उसके हाथों में देते हुए कहा, "बारह आने ठीक हैं न ? इतनी मज़दूरी और किसी को नहीं मिलती। गरीब जानकर तुम्हें दे रहे हैं।"

इसके बाद वागीश चुप रहा और स्त्री भी चुप रही। थोड़ी देर बाद बोला, "तुम्हारा नाम क्या है ?"

"गेंदो।"

सुनकर वागीश फिर चुप पड़ गया। थोड़ी देर बाद बोला, "हाँ, तो अब चली जाओ, कल मुझे जाना है। इनके ऊपर तुमको नहीं रहना चाहिए।"

उसे चुप ही खड़ी देख पूछा, "क्या कहती हो ?"

स्त्री ने जो कहा उसका आशय था कि कल मुझे वहीं स्टेशन ले जाकर छोड़ देना, अकेली मैं रास्ता नहीं जानती।

साथ कल इसे स्टेशन ले जाना होगा, यह बात वागीश को बहुत अप्रिय हुई। स्टेशन भी क्या कोई मुहल्ला है ! स्टेशन पर घूमती रहकर यह औरत विष ही फैलायेगी, और क्या करेगी, आदि बातें मन में लाकर वागीश ने उसे डाँटा, समझाया, उपदेश दिया। सब वह स्त्री पीती चली गई। आखिर बहुत पूछने पर उसने मुँह खोला ही तो पता चला कि उन्नीस रुपये एक कर्ज के उसे जमा करने हैं। वह रकम दी जाय तब भीख माँगना वह छोड़ सकती है।

वागीश के जी में तो आया कि कहे कि तुम चाहे नरक में पड़ो, मुझ से मतलब ? भीख माँगना छोड़ोगी तो किसी पर अहसान नहीं करोगी, जो ये उन्नीस रुपये जमा होने की बात कहती हो। काम करो और पसीने में से धेला-पाई जोड़ कर्ज चुकाओ , इत्यादि। पर वागीश ने कहा कुछ नहीं।

इलाहाबाद में "छाया" अखबार का मशहूर कारोबार है। अगले दिन ग्यारह बजे वागीश उसी के दफ्तर में बैठा था। नाम की चिट मैनेजर-साहब को भेज दी गई थी और वह याद किये जाने की प्रतीक्षा में था। क्लर्कों की कतारें काम कर रही थीं और घड़ी चल रही थी। सब, व्यस्त थे। वागीश अकेला था कि कब पूछा जाय।

आखिर उसने सोचा कि कारोबार बड़ा है, फुर्सत कम है, देर होनी

ही चाहिए। लेकिन अब मैं चलूँ। फिर भी मन मार कुछ देर बैठा ही रहा।

पर काम बँधा था और मैनेजर की मुश्किल मैनेजर ही जान सकता है। वागीश उस मुश्किल को न जानकर आखिर कुर्सी से खड़ा हुआ और लौट चला।

इतने में और काम जल्दी-जल्दी निबटाकर मैनेजर लौट रहे थे। बरामदे में एक आदमी को देखकर कहा, "आप !"

वागीश ने ठिठक-कर कहा, "जी, मैं मैनेजर-साहब से मिलना चाहता था।"

"फरमाइए।"

वागीश ने कहा, "मेरे नाम की चिट आपको मिली होगी ?"

"ओह, आप वागीश हैं, आइए-आइए !"—कहकर हाथ में हाथ लेकर मैनेजर वागीश को ले चले।

वागीश रास्ते में उनके निजी दफ्तर में कुर्सी लेकर बैठने को हुआ कि मैनेजर ने कहा, "ओह, यहाँ नहीं। यहाँ शोर-गुल करीब है। दफ्तर जो है ! आइए, अन्दर चलिए।"

इस तरह निजी ड्राइङ्गरूम में ले गये और वहाँ खातिर-तवाज़ो की, कहा, "ठहरे कहाँ हैं ? यह आप ही का घर था। क्या-आ... वह ताँगा आपका है ? अरे भाई, देखना—(घण्टी—चपरासी आता है।) देखो, बाबू-साहब का ताँगा खड़ा है। उसे हिसाब करके रवाना करो ! ओह, नहीं-नहीं, आप रहने दीजिए। क्या देना होगा ? डेढ़-घण्टा—तेरह आने। देखो तेरह आने छोटे बाबू से दिलाओ और सफर-खर्च खाते डालो। वाउचर यहाँ लाने को कहो (चपरासी चला जाता है) हाँ, यह बतलाइए वागीश जी, कि आप हम से खफा क्यों हैं ? इतने खत गए, एक का जवाब नहीं। हम पत्रिका को ऊँची बनाना चाहते हैं—आला स्टैण्डर्ड। आप जैसों के सहयोग से यह हो सकता है। पर आप तो ऐसे नाराज हैं कि खत का जवाब नहीं देते !"

वागीश ने कहा, "वह वागीश अब है कहाँ जो कहानी लिखता था ? वह तो मर गया। क्या आप लोग चाहते थे कि वह न मरता ? या अब चाहते हैं कि न मरे ?"

"वाह-वाह ! आप क्या कहते हैं ? इरशाद कीजिए, हम हाजिर हैं। बिजनिस की हालत तो आप जानते हैं ! कागज की महँगाई तो कमर तोड़े डालती है। फिर भी जिस लायक हैं, हम पीछे न रहेंगे। आप जो कहिए, सिर-आँखों पर। दस, पन्द्रह, बीस, चालीस—आप कह कर तो देखिए। लेकिन हम हर महीने आप की एक कहानी चाहते हैं। अपने यहाँ कहानी-लेखक हैं कितने ? हैं कहाँ ? विलायतों में देखिए, वहाँ लोग हैं ऊँचे दर्जे के, और उनकी कद्र भी है। मगर यहाँ आप हैं और दो-चार गिन लीजिए, वे भी लिखें नहीं तो हम क्या कूड़े से अपना अखबार भरें ? आखिर आप ही कहिए ! देखिए वागीश जी, एक कहानी आप हम को हर महीने दीजिए और रकम, जो इरशाद फरमाइए, हाजिर करूँ। सच कहता हूँ, मेरी मंशा है कि अखबार का और उसके जरिए हिन्दी का स्टैण्डर्ड बने। विलायती किसी पत्रिका से आप की यह पत्रिका टक्कर ले सके, जी हाँ। और आप लोगों की इनायत हो तो यह क्या कुछ मुश्किल काम है......?"

वागीश अपने में संकुचित था। कुछ इस वजह से भी कि बीस रुपए की गरज लेकर वह यहाँ आया था। कानपुर से चला तो दस रुपये उस की जेब में थे। क्या ख्याल था कि राह में जहमत गले आ पड़ेगी। अब बीस रुपये यहाँ से लेकर उस औरत के माथे पटक देगा और किनारा लेगा। यह सोच कर वह आया था। यहाँ आने पर ख्याल हुआ कि कहाँ मेरी लापरवाही कि इतने खतों का एक जवाब नहीं दिया, और कहाँ इनका यह सलूक कि खातिर से मुझे छाये दे रहे हैं। कहा, "जी नहीं, वह तो आप की कृपा है। लेकिन सच मानिए कि मैं कहानी भूल गया हूँ। किस मुँह से आप को आस दिलाता ? और आस-भरा पत्र न भेज

सकूँ तो सोचा कि इससे तो शर्म रखने के लिए जवाब टाल जाना ही बेहतर है। पत्र न लिखने के कसूर की वजह, सच मानिए, मेरी यह शर्म ही है।"

"वाह-वाह ! यह आप क्या कहते हैं ! आप जो लिखेंगे कि एक चीज होगी। कहिए, क्या मँगाऊँ ? पेशगी रखिए, बाद में जब हो लिखते रहिएगा। सब आप ही का है। बोलिए, फरमाइये ! पर एक कहानी हर नम्बर में आप की हो, तब है !"

वागीश ने मुँह खोला, "बीस रुपये !"

'बीस ! तो वाह, यह लीजिए। (घण्टी) देखिए, हर महीने एक उम्दा कहानी हमको दीजिए और अखबार अपना समझिए। (चपरासी आता है।) देखो, चालीस रुपये लाने को कहो और रसीद भी बना लावें। हाँ वागीशजी, आप का सामान यहीं क्यों न मँगवा लूँ ? एक बार ग़रीब का भी घर सही, मोटर में दस मिनट में आ पहुँचेगा।'

वागीश ने माफ़ी माँगी और धन्यवाद दिया।

रुपये और रसीद लेकर बाबू आया तो वागीश ने कहा, "देखिए, मैं इधर कुछ लिख नहीं रहा हूँ। लिखा ही नहीं जाता। इससे नहीं जानता कि आपको आपकी कहानी कब आयेगी। दो-तीन महीने भी लग सकते हैं।"

"तीन महीने ! बहुत बेहतर, तीन सही। लेकिन चौथे महीने में उम्मीद करूँ !"

"जी हाँ, चौथे महीने कहानी न आने की तो कोई वजह नहीं दीखती। आप जानिए, एक मुद्दत से मश्क छूट गई है।"

"वाह-वाह ! यह भी आप क्या कहते हैं ! आपकी कलम क्या मश्क की मोहताज है ? कलम उठाने की देर है कि फिर क्या है।"

रुपये मिल गए। एक आने के स्टाम्प की रसीद भी हो गई। मैनेजर ने कहा, "क्या आप जाएँगे ? जी नहीं, अभी नहीं। किसी हालत

में अभी आप नहीं जा सकते हैं। और रिहाई होगी तो एक वायदे पर। वह यह कि आप आयन्दा यहीं ठहरियेगा।"

वागीश ने इस वक्त के लिए तो लाचारी जतलाई। हाँ आयन्दा वह यहीं आयगा। अभी तो एक मित्र के यहाँ पहुँचना है। इस पर मैनेजर बहुत निराश थे। तो भी उन्होंने तत्परता से मोटर लाने को कहा। जहाँ पहुँचना हो, मोटर उन्हें पहुँचा देगी। मैनेजर वागीश के साथ पोर्च तक आए। ड्राइवर से कहा, "बाबू जहाँ कहें ले जाओ।" घड़ी में समय देखकर वागीश से पूछा, "आपको वहाँ से फिर कहीं जाने के लिए तो मोटर दरकार नहीं होगी ? दो बजे हैं। पौने तीन बजे एक एपाइण्ट-मेण्ट है।"

वागीश ने सधन्यवाद कहा, "जी नहीं, पहुँचा कर गाड़ी सीधी आ सकती है।"

(ड्राइवर से) "अच्छा, तो बाबू को पहुँचा कर यहाँ सीधे गाड़ी ले आना। अच्छा, वागीशजी, देखिए मेहरबानी रखिएगा। और ख़ादिम को याद फर्माइएगा।"

: ३ :

आज ही शाम की गाड़ी से वागीश को जाना था। उसने मित्र से पूछा कि उन्हें काम-काज को किसी नौकरानी की जरूरत तो नहीं है न ? हाँ, मित्र को जरूरत न थी, पर स्त्री को और कोई ठिकाना न हो तो कुछ महीने उसे निबाहने को तैयार थे। इतने में कहीं दूसरी जगह उसके लिए देख दी जायगी। वागीश ने स्त्री से पूछा। मालूम हुआ कि वागीश उसे खुद वहीं स्टेशन के पास छोड़ आये, इसके सिवा वह और कुछ नहीं माँगती। वागीश ने समझाया कि यहाँ आराम से रहेगी और दस रुपये के हिसाब से दो महीने में बीस रुपया जमा-पूँजी हो जायगी। पर नहीं, वह साथ स्टेशन जायगी।

वागीश को बुरा मालूम हुआ, पर मित्र को भला मालूम हुआ। औरत-जात का उन्हें भरोसा नहीं, फिर जिसने खुली हवा देखी हो! उस दिन सबेरे ही उठकर स्त्री ने दस सेर आटा पीसा था, झाड़ू दी थी और महरी न आने की वजह से कहने-पर चौका-बासन भी उसी ने किया था। इसकी मजदूरी में वागीश ने आठ आने दे, भरपाई की थी।

आज स्त्री ने अपने पुराने कपड़ों की बाबत पूछा था। वह इन कपड़ों को यहीं उतार जायगी। पर मालूम हुआ है कि उसके कपड़े नहीं हैं। सुनकर मालकिन के कमरे की दहलीज पर सिर नवाते समय उसने अपनी गाँठ के कुल पौने दो-रुपये निकाल कर रख दिये। यह देखकर मालकिन आग-बबूला हो गई। फुफकार कर अपनी जगह से उठ आकर लात से सब पैसे दूर फेंक दिए और उसे फौरन घर से निकल जाने को कहा और अपने सामने से हट जाने पर भी तरह-तरह के दुर्वचन मुँह पर लाकर वह बड़बड़ाती रही। वह स्त्री बिना कुछ कहे फेंके हुए पैसे बीन कर किसी-न-किसी काम में दूर हो रही।

खैर, वागीश उसे ताँगे में बिठा कर चला और रास्ते में बीस रुपये उसे सौंप दिये। देने के साथ उसे बहुत सख्त-सुस्त भी कहा। स्त्री ने रुपये ले लिए और चुप रही। वागीश ने कहा, "तुमको शर्म आनी चाहिए कि एक इज्जत की नौकरी मिलती थी सो तुम को नहीं सुहाई। मैं जानता हूँ कि तुम फिर वही हाथ फैलाती फिरोगी। पर, तुम में गैरत होगी तो, बीस रुपए ये जो तुम को दिये हैं, इसके बाद बैठ कर कुछ काम-हीले से लगोगी। यह नहीं कि बेहया-सी घूमो और भले-मानुसों को तंग करो, एक शरीफ़ आदमी ने तुम्हें ऐसी इज्जत से रखा, खाना-पहनना दिया, ऊपर से मेरी ख़ातिर दस रुपये माहवारी देने को तैयार हुए और तुम ऐसी कि उनके उपकार को एक नहीं गिना। तुम्हारे काम से मैं समझा था कि तुम में समझ होगी। लेकिन खैर जाने दो। यहाँ रहती कहाँ हो ?"

"कहीं नहीं।"

"कहीं तो रहती हो ?"

"कहीं रह लेती हूँ।"

सच पूछो तो वागीश को बेहद बुरा लगा। वह जल्दी इस बवाल से छुट्टी पाना चाहता था। उसे सुध आई कि स्टेशन पर कुली और दूसरे लोग क्या सोचेंगे। यह ख्याल अब तक नहीं आया था, अब आया तो सचमुच यह सब-कुछ बड़ा बेतुका लगा और शर्म मालूम हुई। सो अपनी काफी नसीहत खर्च कर गुमसुम हो रहा। वह जैसे इस बात को यहीं एकदम समाप्त देखना चाहता था। ऐसी ही गुमसुम हालत में था कि सुना, स्त्री पूछ रही है, "आप कहाँ जायँगे, बाबू-साहब ?"

"कानपुर।"

जवाब में यह एक शब्द झटके से मुँह से बाहर फेंक कर बिना उस ओर देखे वह अपनी जगह बैठा रहा। ताँगे में वह कोचवान के बराबर आगे बैठा था। बच्चे को लेकर स्त्री पीछे बैठी थी। वागीश मन में मानता था कि ताँगे-वाला जानता है कि यह औरत मेरे साथ नहीं है, ताँगे-वाले ने उनकी बातें सुन ली होंगी। ताँगे-वाले की उपस्थिति के कारण बातें कुछ अतिरिक्त जोर से कही जा सकी थी।

कुछ देर बाद स्त्री ने पूछा, "वहीं रहते हैं ?"

गुस्से में वागीश ने अत्यन्त संक्षिप्त भाव से कहा, "हाँ।"

कुछ देर चुप रहने के बाद स्त्री ने कहा, "कानपुर तो बहुत बड़ा है। वहाँ कहाँ रहते हैं ?"

वागीश ने असह्य बन कर कहा, "तुम चुप नहीं रह सकती हो ?"

स्त्री चुप हो गई, उसके बाद नहीं बोली। स्टेशन पहुँच कर तत्परता से वागीश ने कुली को बुलाया। उसके सिर पर सामान रखा और चलने को था कि कुली ने पूछा, "बस बाबू, सब सामान हो गया ?"

वागीश को सहसा याद आया और कहा, "ताँगे के वहाँ नीचे सूटकेस है।"

कुली तांगे के पीछे आकर बोला, "उतरो बहू जी।"

स्त्री अब तक अपनी जगह ही बैठी रह गई थी। सुनकर एकदम चौंकी और झटपट तांगे से उतर आई। कुली ने कहा, "ड्योढ़ा दर्जा, बाबू जी ? बहू जी प्लेटफार्म पर चलती हैं, आप टिकट लाइये।"

वागीश ने अनायास कहा, "टिकट है।"

स्त्री सुध खोई खड़ी थी। वागीश ने झल्ला कर कहा, 'क्या खड़ी हो, चलो। कुली के साथ चलो!"

कुछ देर ठिठक कर स्त्री कुली के साथ बढ़ गई। इतने में वागीश के कन्धे पर थापी पड़ी। पीछे मुड़कर वागीश क्या देखता है कि हँस रहे हैं, बाबू रामकिशोर!—"हेलो वागीश, कानपुर चल रहे हो ? मैं भी चल रहा हूँ। यह कौन हैं ?"

वागीश ने कहा, "कौन ?"

रामकिशोर ने कहा, "यही, जो साथ हैं ?"

वागीश ने कहा, "साथ कौन ? कोई नहीं।"

रामकिशोर ने कहा, "अच्छा कोई न सही।"—और वह मुस्करा दिये। वागीश किसी तरह रामकिशोर से किनारा काट तीर की तरह प्लेटफार्म की तरफ बढ गया। रेल आई न थी। कुली के हटने पर उसने स्त्री से कहा, "देखो, तुमने मुझे कैसे झमेले में डाल दिया है। अब तुम जाओ।"

स्त्री एक तरफ मुँह झुका कर खड़ी थी—वहीं खड़ी रही।

"जाओ।"

"चली जाऊँगी।"

"कब चली जाओगी, जाओ।"

"आप चले जाएँगे तब मैं भी चली जाऊँगी।"

"तब क्यों, अभी जाओ!"

सुनकर नहीं कह सकते कि क्या हुआ। स्त्री एकदम बदली दीखी। वह मुस्कराई और बोली—"अभी न जाऊँ तो ?"

वागीश की छाती पर जैसे किसी ने मुक्का मार दिया। वह सन्न रह गया, बोला, "क्या मतलब ?"

स्त्री और भी मुस्कराहट के साथ बोली, "आपका मैं क्या बिगाड़ रही हूँ ? कहती हूँ, चली जाऊँगी। प्लेटफार्म सब का है।"

वागीश उस प्रगल्भ नारी की तरफ आँख फाड़ कर देखता रह गया, "तो तुम नहीं जाओगी ?"

मुस्कराती हुई बोली, "न, नहीं जाऊँगी।"

वागीश इस पर कुछ देर खोया। फिर असमन्जस काट कर बोला, "अच्छी बात है। तो तुम्हें खड़ी देख कर लोग क्या समझेंगे ? सामान पर बैठ क्यों न जाओ ?"

सुनते ही वह होल्डाल पर खुब बैठ गई और चमड़े का सूट अलग सरका कर बोली, "आप भी बैठ जाइये।"

वागीश भी बैठ गया। तब स्त्री बोली, "मुझे स्टेशन पर छोड़ जाते तुम्हें कुछ विचार नहीं होता है ! तुम्हें किसी भी नौकरानी वगैरह की जरूरत नहीं है। बस, खाने-कपड़े पर मैं पड़ी रह सकती हूँ, मैं पीस लेती हूँ, झाड़ू-बुहारी, चौका-बासन कर लेती हूँ, कपड़े धो लेती हूँ। ऐसी किसी नौकरानी की तुम्हें जरूरत नहीं है ?"

वागीश ने उसे देखा। कठोर होकर कहा, "नहीं, मुझे जरूरत नहीं। मैं अमीर नहीं हूँ।"

"मैं कुछ नहीं माँगती, रूखे-सूखे में रह लूँगी। पर तुम समझदार होकर स्टेशन पर मुझे कहाँ छोड़े जा रहे हो ?"

वागीश को बहुत-बहुत बुरा लगा। उसने कहा, "मुझे नहीं मालूम था कि तुम ऐसी होगी ! तुम क्या चाहती हो ? यह लो, मेरे पास बीस ही रुपये और हैं। लेकर कोई मेहनत-मजूरी देखो।"

स्त्री ने चुपचाप रुपये ले लिए। कुछ नही कहा; बस वागीश के मुँह की तरफ देखती रही।

आगे बातचीत का मौक़ा नहीं मिला। सामान के लिए कुली आ पहुँचा था। रेल आने वाली देख कर स्त्री तत्परता से उठ कर अलग खड़ी हो गई। रेल आई, कुली सामान लेकर ड्योढ़े दरजे की तरफ बढ़ा। वागीश भी जगह की जल्दी में मानो उधर बढ़ गया। स्त्री अपनी जगह से हिली न डुली, वहीं रह गई।

चलती रेल से वागीशने देखा कि स्त्री जाती हुई रेल की तरफ मुँह किये वहीं-की-वहीं खड़ी थी।

: ४ :

वागीश को यह क्या हुआ ? वह बदलने लगा। लिखना कम हो-गया, निर्द्वन्द्वता कम हो गई। लोगों से मिलने-जुलने की तबियत न रही। परिवार में रह कर वह अकेला पड़ने लगा। जैसे अनजान में भीतर बैठ कर कुछ उसे कुतरने लगा।

असल बात यह कि अन्त तक वह सवालों को अपने से ठेलता आया था। समझता था कि यही उनका सुलझना है। वह आजाद था और किसी अन्तिमता को नहीं मानता था। सब ठीक है, क्योंकि सब गलत है। इसलिए जीवन को एक अतिरिक्त हँसी-खुशी के साथ निभाये चले जाने को हठात् सब-कुछ मानकर बिन-पाल तिरती नाव की तरह वह लहराता चला जा रहा था। ऐसे ही में वह लेखक बन गया। महान् वस्तु उसके लिए विनोद की हो सकती थी। जीवन की तरफ एक खास हलकेपन का दृष्टिकोण उसमें बस गया था। श्रद्धेय पुरुष उसकी कलम के नीचे व्यङ्ग बने रहते थे और सिद्धान्त वहम। इस कारण लेखक की हैसियत से वह बहुत लोक-प्रिय था। एक की पूजा का विषय दूसरे के हास्य का विषय बने इससे अधिक आनन्द की बात क्या है। इस तरह दुनिया के सब पूजितों को उपहास्य और सब मान्यताओं को मूर्खता दिखाकर वह अधिकांश लोगों का मन खुश करता था। यों बौद्धिक दृष्टि से दुनिया का वह बहुत उपकार भी करता था। उपकार, क्योंकि वहम तोड़ता था।

पर अपकार भी करता ही था, क्योंकि श्रद्धा तोड़ता था। पर इस बार इलाहाबाद से लौटकर वह जैसे खुद चक्कर में आ गया था। अब तक लेखनी के रास्ते व्यङ्ग और विनोद करने और नीति को अनीति की सीख देने में उसे कुछ कठिनाई नहीं हुई थी। काम मजे का था, शोहरत देता था और पैसा लाता था। पर पैसे पर वागीश नहीं रुक सका। इससे पैसा भी वागीश पर नहीं रुका। इस हाथ ले, उस हाथ दे, बस यह हाल था। लेनेवाला हाथ खाली रहे, उतने काल देनेवाले हाथ को भी आराम मिल जाता था। पर इधर से आया नहीं कि उधर गया नहीं। इस हालत में व्यसन बेचारा कोई उसे क्या लग सकता था। व्यसन है लत, लत लाचारी होती है। पर दोस्तों में बैठकर शराब चख ली थी। और रंगीनियों में किसी सङ्गी-साथी का साथ निबाह दिया यह दूसरी बात है। यह तो शिष्टता है। नहीं तो धर्म का दम्भ न हो जाय? अतः बिगाड़ के रास्ते पर बड़े मजे के साथ बिगड़ते मित्र के साथ वह कुछ क़दम चल लेता था। यह वह अपना कर्त्तव्य मानता था। पर उसमें खुद बिगड़ने की शक्ति न थी। वह कुछ बना ही ऐसा था कि क्षण उस पर से गुजर जाते और यह उन पर से गुजर जाता था। दोनों एक-दूसरे को छूते या अटकाते नहीं थे। जो हुआ पार हुआ, उसका बन्धन कैसा? यहाँ तक कि याद, पुनर्विचार, पश्चात्ताप आदि के अस्तित्व की बात उसे समझ न आती थी।

पर इलाहाबाद से आकर यह उसे क्या हुआ? दुनिया को अब तक मजे से देखता था और उसमें मजे से विचरता था। सैरगाह और तमाशा नहीं तो दुनिया क्या है? भाँति-भाँति की चतुराइयाँ चमन को यहाँ गुलजार बना रही हैं। उन सब में निर्द्वन्द्व वह क्यों घूमता रहे? कुछ क्यों न फँसे? कोई सदाचार या दुराचार, नीति अथवा अनीति, स्वार्थ अथवा परोपकार, दृश्य अथवा वस्तु? सब है और सबको मरना है। किधर चल रहा है? महाशून्य की ओर। अन्त में तो सबको मरना है। बस हो गया तय कि मरना है! अब उस मौत में कोई क्या देखे? अन्त

के अन्तर में या उसके पार कुछ दीख तो सकता नहीं, इससे उधर आँख देना ही भारी मूर्खता है। बस, यह तय करके नाचते-गाते हुए वर्तमान के क्षणों पर तिरता-सा हुआ वह रहता था।

पर इलाहाबाद से आया कि कुछ दिनों में उसे प्रतीत होने लगा कि उसे शराब की जरूरत है। अन्दर कुछ फूटना चाहता है, जिसे डुबाना चाहिए। ग़म नहीं था जिसे ग़लत करता है। पर तो भी कुछ था, जो अनिच्छित होकर भी भीतर से एकदम शून्य नहीं हो पाता था, अब तक वह अपनेपन को अपने पास न रखता था। पर अब जरूरत हुई कि वह अपनेपन को भुलाए। यानी वह अनिष्ट वस्तु उसमें हो चली थी जिसका नाम है अपनापन, और जो अभिशाप है। उसी का दूसरा नाम है—आत्मालोचन।

इससे बड़ी वेदना क्या है कि आदमी को आत्मा मिले? माता शिशु को जन्म देती है, तो यह स्वयं उसका पुनर्जन्म होता है। व्यक्ति को अपनी आत्मा मिलती है, तो भी पुनर्जन्म के बिना नहीं। जन्म के लिए मरना पड़ता है। वह कुछ ऐसा ही वागीश के साथ हो रहा था। वह अपने भीतर किसी का जन्म नहीं चाहता था। पर उसके बावजूद एक बीज उसमें गर्भस्थ हो पड़ा था, इसलिए अपने बावजूद उसे मरना पड़ रहा था।

किन्तु स्वेच्छा-पूर्वक मरने की कला किस को आती है? इससे जिस वस्तु को उसके नूतन जन्म को सम्भव करने के लिए उसमें से मर मिटना चाहिए, वागीश उससे चिपटा रहना चाहता था। परिणाम था एक घोर मानसिक द्वन्द्व। लिखना भाड़ में चला गया, शोहरत का ख्याल और लौकिक कर्त्तव्यों की चिन्ता चूल्हे में पड़ गई। बस, शराब की मात्रा उसकी बढ़ती जाने लगी।

इन ढंगों से हाल बिगड़ता ही गया। पैसे की कमी हुई। पर कमी में रहने की उसकी आदत नहीं थी, न उसमें बेईमानी का बीज था।

परिणाम यह हुआ कि जिस-किसी से वह उधार ले लेने लगा। लिया उधार लौटाने की उसे याद ही नहीं रहती थी। ऐसे लगभग एक साल हो गया।

इस बीच 'छाया' के मैनेजर के नम्रता-पूर्ण कई पत्र आये। पत्र पाकर वह हँस देता था, धीमे-धीमे पत्रों में विनय की जगह तकाजा आने लगा। तब भी उसने जवाब नहीं दिया। तकाजे में एक-बार कुछ अविश्वास की गन्ध उसे मिली। उसने मैनेजर को लिखा कि चालीस रुपये क्या कभी तमाशे पर आपने खर्च नहीं किये हैं ? समझिए यह चालीस रुपये भी तमाशे में गये। और तमाशे को तमाशे की तरह आप देखें तो जितना बुरा हो, उतना ही बढ़िया कहा जा सकता है। अब कहानी मुझ से न माँगें, न रुपये। रुपये डूब गये और कहानी वाला भी डूब गया।

खत लिखकर वागीश ने सोचा होगा कि छुट्टी हुई। पर मैनेजर की सज्जनता समाप्त होने वाली न थी। पत्र आया कि आपकी कहानी से पत्र की शोभा और प्रतिष्ठा बढ़ती है। रुपये की कोई बात नहीं। बीस रुपये और भेजे जाते हैं। कहानी आप से मिले, इसकी हिन्दी-जगत् को प्रतीक्षा है। पत्र पढ़कर वागीश ने तभी फाड़ फेंका और मनीआर्डर लाने-वाले डाकिए को धमकाकर घर से बाहर निकल दिया।

ऐसे कुछ दिन और बीते। वागीश राह पर न आया। उसे भयंकर युद्ध करना पड़ रहा था। शराब की मात्रा काफी बढ़ गई थी। और अब सस्ते किस्म की शराब मिल पाती थी। इस बीच उसने गाँधी-दर्शन पर दो-एक निबन्ध लिखकर अखबारों में भेजे, जिनकी मर्मज्ञों में बहुत प्रशंसा हुई। उस पर और कइयों ने लेख लिखे। प्रशंसा के ऐसे सब लेखों को उसने टुकड़े-टुकड़े करके बाहर फेंक दिया। वह अब शराब से जब खाली होता, कमरे में गाँधीजी की तस्वीर की तरफ लगातार देखता रहता। कभी देखते-देखते रोने लगता। फिर उसके बाद बोतल खोल कर पीने लगता।

ऐसी हालत में 'छाया' का पत्र आया कि अब बहुत हुआ, कहानी दीजिए या रुपये लौटाइए। कहानी के नाम पर वह जल-भुन गया। कलेजे में आग लग रही हो, पर उसकी कहानी भी हो सकती है। शहर में आग लगती है और अखबारों के रिपोर्टरों की कहानी बनती है। अखबारी रिपोर्टरों का कहानी देने का काम आग में जलने वालों के जलने के काम से ज्यादा कीमती है, यह सच हो सकता है, पर जो जल रहा है, वही उस जलने के सौन्दर्य का बखान कैसे करे ? ज्वालामुखी अपनी तस्वीर को देखकर क्या कहेगा ? उस तस्वीर का यही भाग्य है कि वह ड्राइंगरूम का सौन्दर्य बढ़ावे। नहीं तो कहीं अपनी ही असलियत के पास पहुँचने की वह तस्वीर हिम्मत करेगी तो पास तक पहुँच नहीं पायगी कि बीच ही में फुँक जायगी।

इसलिए 'छाया' की माँग पर वह दाँत किसकिसा कर रह गया। ऐसा गुस्सा आया कि वह अपने को ही न काट ले। सोचा कि लिख दे कि चालीस रुपये के बगैर किसी की जान निकल रही हो तो तार देना, तब रुपये फौरन यहाँ से आयेंगे, पर उसने यह नहीं लिखा। क्योंकि उसको एकदम निश्चय हो गया कि चालीस रुपये के बिना या उसके एवज के बिना सचमुच मैनेजर की जान ही निकल रही है। वह चाहता था कि वह जान जरूर बचे, क्योंकि वह जान पैसे की उम्मीद में अटकी है। इसलिए वह आँखें फाड़-फाड़ कर सिर के ऊपर लगी गाँधी जी की तस्वीर और उसके पार छत में देखता था कि कहाँ से चालीस रुपये निकल आवें। वह जल्दी-से-जल्दी उतने रुपये 'छाया' को भेज देना चाहता था क्योंकि प्राण-रक्षा का सवाल था। पर ऐसी हालत और चालीस रुपये...!!

'हराम का नहीं, काम का खाना चाहिए।'—मैं किस काम का खा रहा हूँ ? किस काम का खाता रहा हूँ ? क्या लेख भी काम है ? शोह-रत काम है ?...असल में वह सम्भल कर फिर-फिर वहीं खड़ा होना चाहता था। लेकिन ज़मीन नीचे से बराबर खिसक रही थी। इससे

उसके ऊपर मजबूती से पैर बाँध कर खड़ा होना सम्भव ही न था। उस को तो गिरना ही होगा। पर गिर कर टिकना कहाँ होगा...यह वह नहीं जानता था। उसे मालूम हुआ कि गाँधी एक आदमी है जो उस असली ज़मीन पर खड़ा है। पर मेरे पैर तो उस ज़मीन को छू भी नहीं पाते हैं। कहाँ मैं खड़ा होऊँ? इस तरह अपनी ज़मीन से उखड़ कर वह जैसे अतल पाताल में गिरता जा रहा था।—हराम, काम ! काम, हराम, !! वह हरामी है, हरामी है !!!

तब उसे वह स्त्री याद आती थी, जिसको हराम का नहीं, काम का खाने की सीख उसने दी थी। उसने जी-तोड़ कर काम किया था, फिर भी वागीश ने उसे हराम का नहीं, काम का खाने की शिक्षा दी थी। कहा था, "आवारा न रहना, काम करना।"

पर वागीश खुद क्या कर रहा था? उसने क्या आवारापन को ही एक कला का रूप नहीं दे लिया था? क्या उसने अपनी ओर से छल भी उसमें और नहीं जोड़ दिया था? इस तरह उसकी शोहरत और उसका बड़प्पन क्या सब एक बहुत बड़ा माया-जाल ही नहीं था? अगर उस औरत का हाथ फैला कर भीख माँगना झूठ था, तो क्या उसका यह किताबें काली करके पेट भरने और शिक्षा देने का दम्भ भरने का धन्धा क्या झूठ नहीं था?

पर इस शंका के अतल में उसे तल न मिल रहा था? इससे ऊपर गाँधी की तस्वीर को देख कर रोता था और फिर रह कर बोतल सम्भाल लेता था।

कुछ दिन और बीते कि 'छाया' का नोटिस आया कि चालीस रुपये सात रोज के अन्दर भेजो, नहीं तो मामला वकील के सुपुर्द किया जा रहा है। पढ़कर वागीश ने चैन की साँस ली। वह खुश हुआ कि किसी की मरने की बात अब नहीं है, अदालत उसको जिला देगी। इसलिए नोटिस पाकर वह इस बारे में बेफ़िक्र हो गया। अब दया का प्रश्न न

था। जिसको अदालत का बल प्राप्त है, उसको दया देना उसका अपमान करना है। और वागीश कितना ही गिर जाय, इतना अधम नहीं हो सकता था कि दयनीय पर दया न करे अथवा सम्माननीय का अपमान करे।

: ५ :

पर हाय ! वागीश को दण्ड पाने का सन्तोष न मिला। वह चाहता था कि उसकी खूब फ़जीहत हो; उसने जो लेखकी और प्रसिद्धि का महा झूठ अपने चारों ओर रचा था, वह झूठ टूटकर धूल में मिल जाय; उसकी इज्जत चिथड़े-चिथड़े होकर कीचड़ में सन जाय। वह जेल पाये और सख्त-से-सख्त अपमान पाये। उसे लौकिक कर्त्तव्य सब मिथ्या और अपने को दण्डित करने का ही एक परम कर्त्तव्य सत्य दिखाई देता था। इस समय उसकी हालत थी कि अगर सौ रुपये जबर्दस्ती कोई उसके हाथ में दे जाता तो वह सौ के सौ किसी राह-चलते अन्धे को दे देता। पर 'छाया' को पाई न भेजकर उस ओर से वह बेइज्जती ही चाहता था, उससे सस्ती कुछ वस्तु पाकर किसी तरह भी छूट रहना नहीं चाहता था। दुनिया जब तक उसे पामर न देख ले और पामर न मान ले तब तक मानो उसे सन्तोष न होगा। क्योंकि अभिमान का पाप करने वाला इससे कम दण्ड के योग्य नहीं है। वागीश ! तू लेखक, ज्ञानी, नीति सिखाने वाला ! अरे दम्भी ! अब तू इसी अधमाधम नरक में पड़ !

इस तरह की उसकी भावनाएँ थीं, और वह गाँधी की तरफ देखकर रोता और शराब पीकर हँसता था।

पर उसका चाहा कुछ न हुआ। क्योंकि एक दिन वह इलाहाबाद वाली स्त्री आई और उसने चालीस रुपये वागीश को लौटा दिये। वागीश ने उस पर डाँटा-डपटा, गालियाँ दीं, नोटों को फाड़ देने की धमकी दी। पर, औरत सब पी गई, और न वहाँ से टली न रुपये वापिस लिए ?

वागीश ने कहा, "तुम अन्धी तो नहीं हो ? मैंने कब तुम्हें रुपये दिए ? कैसे रुपये ? वह कोई और होगा। देखती नहीं हो, वह कैसी जगह है ? इसलिए मुझे होश रहते तुम यहाँ से चली जाओ; पर स्त्री ने कुछ नहीं सुना और रुपये डालकर उस कमरे की यहाँ-वहाँ बिखरी चीज़-वस्तु सम्भालने में लग गई।

वागीश से यह नहीं हुआ कि लातें मारकर उस स्त्री को वहाँ से निकाल दे, अगर्चे वह चाहता यही था।

: ६ :

वह स्त्री कमरे को ज़रा सम्भालकर थोड़ी देर में चली गई, लेकिन अगले दिन फिर आई, उससे अगले दिन फिर—उससे-उससे अगले दिन फिर।

खुद उस स्त्री के मुँह से वागीश को मालूम हुआ कि वह व्यभिचारिणी थी। वागीश की सहानुभूति में उसने जाने क्या देख लिया था। उसकी काम की मुस्तैदी सिर्फ वागीश का मन हरने के लिए थी। उस पर इक्कीस रुपये कर्ज़ होने की कहानी गढ़न्त थी। वह वागीश को रिझाकर उससे कुछ ठगना चाहती थी। वह बाज़ार में बैठ चुकी है, जेल काट चुकी है। इसी तरह और भी उसने अपने पाप की कहानियाँ सुनाईं।

लेकिन उस दिन इलाहाबाद से वागीश के जाने के दिन से उसने मेहनत से काम किया है। वह सच कहती है कि उसने हराम का नहीं खाया, काम का खाया है। और उसी में से चालीस रुपये बचाए हैं। उस स्त्री ने माथा धरती पर टेककर कहा कि ये रुपये अब वह वापिस नहीं लेगी।

इस तरह तीन रोज़ वागीश के पागलपन, उसकी झिड़की और बदहवासी के बावजूद स्त्री अपनी पूरी पाप-कहानी सुना गई। तब चौथे रोज वागीश ने कहा, "सुनो, यह गिलास बोतल मोरी में पटक आओ।

ग्रौर मनीग्राडंर लिखता हूँ, डाकखाने में दे ग्राना, ऊपर से जो पैसे लगें लगा देना ग्रौर दो दिन यहाँ मत ग्राना। क्योंकि पूरे दो दिन मैं सोऊँगा।"

"उसके बाद..." ...वह कहना चाहता था, पर कह नहीं सका, "मैं भी हराम का नहीं, काम का खाऊँगा।"

चालीस रुपये ग्राये ग्रौर गये। फिर ग्राये ग्रौर फिर गये। वह कैसे ? उसका वृत्तान्त यहाँ समाप्त होता है।

प्यार का तर्क

प्रेम के बारे में अक्सर बातें चल जाया करती हैं। प्रेम की बात प्रेम से अलग चीज है। प्रेम में पड़कर अक्सर बात सूझती ही नहीं। फिर भी आदमी है कि प्रेम सहता नहीं उसकी बात करता है। ऐसे वह प्रेम को मजाक बनता है।

कलकत्ते में ठहरा हुआ था कि मेरे हाथ में कुमार का कार्ड दिया गया। सात-आठ वर्ष हुए, कुमार मुझे दिल्ली में मिला करता था। वह आया तो मैंने देखा कि कुमार अब ठीक वही नहीं है। काफ़ी बदल गया है। पहले इकहरा था, अब बदन भर आया है; मालूम होता है, व्यवहार में अब वह शायद कुछ ठौर-ठिकाने से है। कपड़े नई तरह के हैं और आत्मविश्वास से हीन नहीं दीखता है।

कुमार ने बड़ी अभिन्नता से मुझ से भेंट की और कुछ देर बाद, जब कि मैं समझता था कि वह जाना चाहता है, उसने उठते हुए कहा, "भाई, मुझे कुछ तुम को दिखाना है और सलाह लेनी है। तुम्हें कब वक़्त होगा? घर आ सकोगे?"

मैंने मुस्करा कर पूछा, "क्या दिखाना है? घर बसा लिया है क्या? कोई अच्छी शकल घर पर दिखानी है?"

वह कुछ लाल पड़ आया, जल्दी से बोला, "नहीं, नहीं।"

"तो कुछ साथ लाये हो दिखाने को ? हो तो लाग्रो, दे जाग्रो।" मैं देख रहा था कि उसके कोट की जेब मामूली हालत में नहीं है और हाथ जरूरी से ज्यादे देर तक वहाँ अटका रहता है।

मैंने स्वीकृत-भाव से कहा, "लाग्रो, लाग्रो, निकालो जो हो।"

वह घबराया हुग्रा-सा बोला, "ग्राप को वक्त होगा ?"

"वक्त के सिवा यहाँ कुछ नहीं रहता है", उसके कोट की जेब की तरफ हाथ बढ़ा कर उसे थपकाते हुए मैंने कहा, "बड़े वो हो, हजरत ! सकुचा क्यों रहे हो ?"

ग्रसल में जब मैं कुमार को जानता था, यह देखे बिना न रह पाता था कि यह ग्रादमी कितना भी बड़ा ग्रादमी हो जाय, कवि बनना उससे जल्दी नहीं छूट सकेगा। शादी वह ग्रपने समय पर नहीं कर पायेगा ग्रौर बहुत काल तक ग्रपने ग्रौर विवाह के बीच में रोमान्स को चलाए ही जायगा।

ऐसा था, तभी मैं कलकत्ते-जैसी काम-काजी लोगों की बस्ती में इस प्रकार ग्राये हुए ग्रौर पूरे तौर पर कामिन्दा दीखने वाले ग्रादमी को बिना छेड़े नहीं रह सका।

मैं जानता था कि यह ग्रादमी ग्रासानी से काम-काज में चतुर हो सकता है, लेकिन एक जगह है, जहाँ ग्रपने लिये उलझन बनाये रखना उसके लिये बहुत जरूरी है।

ग्राखिर लाल फीते में बँधा एक पैकेट उसने जेब से बाहर किया ग्रौर मेरे हाथ में थमा के यह कहता हुग्रा 'शाम को ग्राऊँगा ग्रमुक समय,' वह तेजी से बाहर चला गया।

कहने की ग्रावश्यकता नहीं कि वह पैकेट प्रेम-पत्रों का था। किन्हीं पर केसर छिड़की थी, एकाध पर गुलाब की पत्ती रखी थी। दो-चार, छै-ग्राठ पत्र मैं देख गया। मालूम हो गया कि दूसरी ग्रोर समर्पण उद्यत है ग्रौर हर तरह की तत्परता। भागा भी जा सकता है, मरा भी जा

सकता है। इतना जानकर पत्रों को ज्यों-का-त्यों बाँधकर रख दिया और अचरज करने लगा कि सलाह मुझसे परिस्थिति के ठीक किस बिन्दु पर माँगी जायगी और वह क्या है जो ऐसी कटिबद्धावस्था में देने के लिए मेरे पास हो सकता है।

मालूम हुआ कि कुमार ने अच्छा-खासा दफ्तर जमा लिया है। सात सौ-आठ सौ की मासिक आय अभी पक्की है और कार-बार उभार पर है। लेकिन यह भी मालूम हुआ कि एक बार उस पर केस होते-होते बचा है और वह कठिनाई से जेल से बाहर रह सका है।

शाम को कुमार आया, लेकिन उसने बात नहीं की, सिर्फ आग्रह किया कि मैं उसके साथ कहीं बाहर चलूँ। मुझे इसमें आपत्ति न थी और देखा कि मैं उसके साथ मेज पर बैठा हुआ हूँ और शेमपेन भी हमारे बीच आ गई।

कुमार ने जानना चाहा कि मैं उन पत्रों से उसके प्रेम के सम्बन्ध में क्या अनुमान कर सका हूँ। मैंने सिर्फ कहा कि प्रेम गम्भीर है।

उसने सुनकर मेरी तरफ गुस्से से देखा, और बोला कि वह सब झूठ है।

मैंने जानना चाहा, "क्या मतलब ?"

उत्तर में उसने काफी कुछ कहा। साथ रह-रह कर ढालता और पीता भी जाता था। मैं समझता हूँ कि अत्यन्त सहज-भाव से वह भूल गया कि पी वह अकेला ही रहा है। मुझसे उस सम्बन्ध में अनुरोध की रक्षा भी नहीं चाह रहा है। उसकी बात से मैंने परिणाम निकाला कि वह यू० पी० के उस दूर के कस्बे में खुद हो आया है। लेकिन भेंट नहीं पा सका है। प्रेमिका के माता-पिता ने उसे पहचानने से इन्कार कर दिया है। प्रेमिका के सम्बन्ध में कह दिया गया है कि उसकी तबीयत ठीक नहीं है।

तीन-रोज गाँव में हर तरह के प्रयत्न करके भी वह किसी तरह का दर्शन या सन्देश पाने में भी सफल नहीं हुआ।

आखिर लौट कर कलकत्ते के अपने डेरे मे पैर रखता है तो पाता है कि पहले की तरह का ही सुवासित प्रेम-पत्र उसकी प्रतीक्षा पर है। उसमें दर्शनकी लालसा है; अपना समर्पण करने का अवसर पाने की साध, और कहा गया है कि तुम्हारा उस तरह सीधे घर पर आना ठीक नहीं था, और इस तरह तुमने हमारे प्रेम के मार्ग में कुछ कठिनाई ही पैदा की है, इत्यादि—इत्यादि।

कुमार ने पूछा, "अब बताओ मुझे क्या करना चाहिए ?"

मैं विवाहित आदमी हूँ, बाल-बच्चेदार हूँ। दिन वह मुझे भूले नहीं हैं, जब विवाह न हुआ था और प्रेम का सम्बन्ध सिर्फ ऐसे स्त्रीत्व से था, जिसमें किसी तरह भी मातृत्व न हो और वह अप्सरा के नृत्य की भाँति केवल भाव की भंगिमा से पूर्ण हो। लेकिन अब बाल-बच्चेदार होकर में उस कुमार-हृदय को क्या कहता। इससे एकाएक मैं कुछ विस्मित मुस्कुरा-कर ही रह गया। सीधा कुछ उत्तर न दे सका।

उसने कहा, "बताते क्यों नहीं हो ? ऐसे प्रश्न पर मुझे क्या करना चाहिए ? हत्या पर क्या मुझे दोष लग सकता है ?"

"नहीं, दोष नहीं लग सकता। पर तुम वह काम कर जो नहीं सकते।"

उसने बड़े तीखे भाव से मुझे देखा। उसकी निगाह की गहरी अनास्था देखकर मेरा मर्म छू गया। मैंने कहा, "कुमार! नहीं, हत्या भी तुम नहीं करोगे और विवाह भी तुम नहीं करोगे।"

सुनकर उसने मुझे देखा। वह अविश्वस्त था और अप्रसन्न। तनाव उसकी दृष्टि में स्पष्ट था। कुछ देर जैसे वह यत्न से अपने को साधे रहा। था वह अपने आपे में, पर जैसे किसी क्षण वह आपा उसके हाथ से छूट सकता है। मैंने कहा, "आओ उठो, चलें।"

बोला, "अँ...क्या ?"

मैंने कहा, "देखते नहीं, यहाँ बातें कैसे हो सकती हैं ?"

जैसे अब उसे भान हुआ कि वह एक पब्लिक-रेस्टराँ में है और रेस्टराँ खुले बाजार में है। उसने झपकती-सी निगाह से चारों ओर देखा, बोला, "ठीक है, अभी चलता हूँ।" कहकर गिलास खींचा, शराब मिलाई और एक घूँट गटक कर बोला, "तुम यही विश्वास करते हो कि मैं नहीं कर सकता; लेकिन मैं कर सकता हूँ।...वह भी शायद यही समझती है।"—कहकर वह ज़रा हँसा और फिर कहा, "लेकिन मैं कर सकता हूँ।" भौंहें उसकी तन गईं—"क्या समझते हो, मैं मज़ार बनने के लिए हूँ...तमाशा बनने के लिए हूँ ? नहीं, वह कुमार अब नहीं हूँ।"

मैंने उसकी बाहों में हाथ डाला, कहा, "उठो।"

और वह आसानी से उठ गया और मेरे साथ चला।

मैंने फिर कोई उस से बात नहीं की। टैक्सी लेकर बेकाम इधर-उधर घुमाया कि कुछ हवा लगे और वह हलका हो, पर किसी भी और बात में उसने दिलचस्पी नहीं ली, गुमसुम बना रहा और किसी भी ओर खिंचने से मानो इन्कार करता हो। आखिर वहाँ आकर, जहाँ मैं ठहरा था, मैंने कुमार से पूछा, "कुमार, तुम क्या चाहते हो ?"

उसने पूछा कि बताओ कि यह सब पत्र झूठे हो सकते हैं ? इतने पत्र ! और एक-एक उनमें···तुमने पढ़े भी हैं।

मैंने कहा, "नहीं, झूठे क्यों होंगे ?"

"तुम कहते हो कि झूठे नहीं हैं ?—फिर मैं वहाँ चार रोज़ झक मारने क्यों गया ? क्या अपने-आप गया था ? फिर भी···और तुम कहते हो कि झूठे नहीं हैं !—सुनो, ऐसे नहीं चलेगा। ब्याह होगा, नहीं तो···लेकिन ब्याह होकर रहेगा।"

मैंने स्थिति देख कहा, "मुझे तो इस विवाह में कोई कठिनाई नहीं दीखती। लड़की तैयार है, फिर माँ-बाप की बाधा क्या बड़ी बात है ! वह अबोध तो है नहीं ?"

फिर बात को बीच में ही लेकर कुमार बोला, "तुम यह कहते हो ?" उसकी आँखों में चमक आगई। "मैं भी यही कहता हूँ। लेकिन, कैसे होगा ?"

"कैसे क्या होगा ?" मैंने कहा, "वैसे होगा, जैसे विवाह हुआ करते हैं। अरे, तुम्हारे या उसके माँ-बाप का तो ब्याह होना नहीं है। या दो जातियों में नहीं होना है। ब्याह लड़के-लड़की का होता है। जाति क्या माथे पर लिखी आती है ? किस सोच में पड़े हो ? इतनें खत हैं। उस बिचारी की मन की भी तो सोचो। घर में रह कर अपना मन तुम्हारे पास भेजती है और दीवार-दरवाजे तोड़ कर गाँव-देहात में निकल कर तुम्हारे पास नहीं आ सकती तो तुम यह-सब दोष उस पर डालने लग गए ? क्यों कुमार ? यह तुम्हारा प्यार है ? इतनी ही तुम में उससे हमदर्दी है ?"

यहाँ एक बात कहना ज़रूरी है—वह यह कि मुझे बता दिया गया था कि लड़की का सम्बन्ध अन्यत्र हो रहा है और कुमार को यद्यपि इसका पता नहीं है तो भी निराशा में एकाध बार वह अपनी जान लेने की कोशिश कर बैठा है। अब अपनी से ज्यादा उसकी जान उसे प्यारी लगने लगी है कि ली जाय। यह तब, जब ब्याह हर-तरफ़ से असम्भव बना दीखे। रह-रह कर वह हर तरफ़ से सम्भव और अगले क्षण उतना ही असम्भव उसे दीख आता है और वह परेशान होता है।

मैंने कहा, "क्यों, कुमार, बोलते क्यों नहीं ? इतना हृदय-हीन तुम्हार प्यार है ? कि जो इतने विश्वास और समर्पण से तुम में आने को तैयार है, उसको इतना गलत समझो ? उसको कुछ सहानुभूति न दे सको ? ये पत्र जिनमें उसनें अपना मम निचोड़ कर बहा दिया है, उनका अपमान करो ?"

उसने आँख फाड़ कर मुझे देखा। बोला, "क्या।"

मैंने उसी दृढ़ता-से कहा, "तुम मानते हो कि तुम उसे प्यार करते हो ? मैं कहता हूँ कि यह झूठ है !"

'झूठ है !" वह आवेश में हो आया, बोला, "मेरा प्यार झूठ है !"

मैंने और भी सख्त हो कर कहा, "और नहीं तो क्या ? नहीं तो तुम उसका विश्वास क्यों नहीं कर सकते ?"

बोला, "वही तो मैं चाहता हूँ, लेकिन।"

"लेकिन कुछ नहीं, प्यार में 'लेकिन' को जगह नहीं होती। बोलो, तुम करते हो प्यार ? बिना किसी 'लेकिन' के करते हो ?"

उसने मेरी ओर देखा। आवेश की जगह जैसे उसकी आँखों में पीड़ा थी। बिना कुछ बोले, आँख उठाकर वह उसी तरह कुछ देर मुझे देखता रह गया। मैंने कहा, "सुनो, जरा अपनी आँख बन्द करो।"

उसने आँख बन्द नहीं की और अविश्वास से मुझे देखता रहा। मैंने कहा, "मैं बताना चाहता हूँ कि तुम प्यार नहीं करते। सिर्फ तमाशा करते हो। ज़रा आँख को बन्द करो।"

"मैं तमाशा करता हूँ !"

"नहीं तो करो बन्द आँख।"

उसने आँख बन्द की।

"दोनों हाथों को आँखों के ऊपर ले लो।"

उसने वैसा ही किया।

अब मैंने कहना शुरू किया—"अब देखो...तुम्हारी प्रेयसी तुम्हारे सामने है ? है न ? मुस्करा रही है...और वह देखो, अब खिलखिलाकर हँस रही है ! उसको भर-पूर देखो, उससे सुन्दर कहीं कुछ है ? अंग-अंग देखो, उससे कमनीय कहीं कुछ हो सकता है ? उसकी हर भंगिमा क्या इन्द्र-धनुष का तुम्हें आभास नहीं देती ? क्या हँसी उसकी धूप-सी नहीं

है ? देखते हो, क्या तुम उसे ही नहीं चाहते ?...तो अब वह गई।... पर नहीं, फिर देखो, जरा गौर से देखो, मुँह उसका पीला है, आँखें खोई हैं, देह दुबली है सारे में उस पर थकान पुती है।...सिर्फ पेट बड़ा है। वह बढ़ता जा रहा है। उसकी आँखों में देखो, उदासी है और शिकायत है। सीधे देखो, शिकायत किसी ओर से नहीं है, वह तुम से है। मुस्कराहट नहीं है, हँसी नहीं है, भंगिमा नहीं है। क्यों नहीं है ? किसकी वजह से नहीं है ? देखो, कुमार, उसकी आँखों में सूनापन देखो, थकान देखो, मुर्झाहट देखो, पीलापन देखो...।"

उसने आँखों के आगे से हाथ हटा लिया और मैंने देखा वह हक्का-बक्का-सा मुझे देख रहा है।

उस समय मैंने निर्दय होकर उससे कहा, "क्यों, तुम प्यार करते हो ?...उसे ऐसा बनाने के लिए प्यार करते हो ?"

कुमार नया था। कष्ट की आँखों से उसने मुझे देखा।

मैंने कहा, "सुनो, तुम प्यार नहीं करते, प्यार नहीं जानते।"

मानो वह पीड़ा से कराह आया।

"तुम—तुम उसे तुम्हारे बच्चों को जनने की पीड़ा देना चाहते हो ?...और उसको प्यार कहते हो ?"

उसकी आँखें बँध आईं और एक शब्द उसके मुँह से न निकल सका। मैंने कहा, "उसने तुम्हें अपना मन दिया है, पर तुम उससे बच्चे चाहते हो और तुम्हारे प्यार को इसमें शर्म नहीं आती, क्यों ?"

मानो कुमार में से उसकी बुद्धि हर गई हो। मानो सब उसमें से सुतकर सूख गया हो।

मैंने कहा, "अगर तुम मानते हो कि तुम में प्यार है और स्वार्थ नहीं है। तुम में खून है और वह सर्द नहीं है, जवाब है, तो तुम एक काम करो। जो तुम्हारे पास कीमती-से-कीमती है, उसकी भेंट लेकर जाओगे और कहोगे कि तुम प्यार करते हो, इसी से उसके ब्याह में

आशीर्वाद देने आए हो। यह प्यार होगा। और तुम इसको समझना चाहते हो।"

वह सचमुच जवान था और उसको सुध-बुध किसी बात की न थी। मैंने कहा कि यह लो, और कहने के साथ पत्रों का बण्डल उसके सामने किया। "क्या इससे प्यारा तुम्हारे पास कुछ है? शायद न हो तो इसे ही ले जाओगे ? देकर उसे अभय दोगे और सदा के लिए आश्वासन दोगे। प्यार होगा तो तुम यही करोगे। नहीं करोगे तो मुझसे सुनो कि प्यार न था, वह सिर्फ चलता भाव था।"

मैं खड़ा हो आया। कहा, "लो अब यह अपनी चीज़ सम्भालो और जाओ।"

उस समय उससे और कुछ भी नहीं बना। बन्डल उठा, नीची निगाह किए वह चला गया।

* * *

बात आई-गई हुई। कई बरस बाद कुमार के जेठे भाई से मिलना हुआ, जो मेरे सहपाठी रहे थे। उनकी आयु में बहुत अन्तर था और वह कुमार के लिए पिता-सरीखे थे।

मैंने पूछा, "कुमार का क्या हाल है ?"

मालूम हुआ, बहुत अच्छा हाल है। घर-गृहस्थी है और दो बच्चे हैं।

मैंने प्रसन्नता व्यक्त की और मित्र बोले, "भाई शुक्ल, तुमने क्या जादू किया कि—"

"क्यों, क्या हुआ ? शादी वहीं हुई न, जहाँ चाहता था ?"

"वही तो कहता हूँ" मित्र बोले, "कि वहाँ नहीं हुई। शायद हो सकती थी, पर कुमार ही न माना। आगे बढ़कर उसने उस कन्या के अन्यत्र विवाह में योग दिया। उसके बाद जहाँ उसकी भाभी ने उसका

सम्बन्ध स्थिर करना चाहा, वहीं स्वीकार कर लिया। तब से तो वह लड़का ही बदल गया है। सच बताओ, शुक्ल, क्या बात हुई थी ?"

हँसकर मैंने मित्र को टाला कि कुछ नहीं प्यार का और जवानी का तर्क और होता है।

वह चेहरा

याद करता हूँ तो चेहरे एक से अधिक हैं जो ध्यान से नहीं उतरते। यह भी अचरज की बात है कि वे सिर्फ़ चेहरे हैं, चरित्र नहीं; यानी उन्हें जानने का मौका नहीं आया। जिन्हें जाना है और भुगता है, ऐसे लोगों के चेहरे मन पर उतने साफ़ नहीं रह गए, उनकी याद इतनी सचित्र नहीं हो पाती, जैसे उनको समेटना और जुटाना पड़ता है। और जो ध्यान से हटते नहीं, वे हैं, जिनके साथ लगभग व्यवहार-वर्ताव का मौका ही नहीं आया। चरित्र खुलता है और धीरे-धीरे खुलता है। चरित्र जब सामने होता है तो चेहरा ओझल होने लगता है। उसके मुकाबले चेहरा खोलता है, कभी खुद पूरी तरह नहीं खुलता। इसलिए हम अपनी तरफ से जितना चाहें उसमें डाल दे सकते हैं। प्रेम चेहरे से होता है, ज्ञान से नहीं। यहाँ उल्लेख मैं उस चेहरे का करूँगा जो सबको ही एक उम्र में दीखता है।

पन्द्रहवें वर्ष में मैं आया हूँगा। कच्ची आँखें थीं और दूधिया दृष्टि। तब दुनिया में चीज़ें ही नहीं दीखती थीं, सपने भी दीखते थे। देखता क्या हूँ कि चेहरा है, जिस पर एक रंग नहीं, पल-पल जिस पर रंग आते और जाते हैं। निश्चय ही उसका रंग उजला है और गोरा है, और वही बना रहता है। लेकिन गोराई में अनेक रंग हैं और उन्हीं की छायाएँ

भागती-सी उस चेहरे पर लहराती रहती हैं। दूर से देखता हूँ, पास जा नहीं सकता। चेहरा कभी मुस्कराता है, कभी हँसता है और कभी जैसे सिर्फ विस्मित प्रतीक्षा में सूना ही रहता है। उसका वर्णन नहीं हो सकता। उस चेहरे पर अवयवों को अलग से देखना मुश्किल है। सब साथ, एक ही झलक में दीखता है। उसकी आकृति नहीं दी जा सकती। आकार-प्रकार है, पर चेहरा वह उसमें समाप्त नहीं है। अपने अभाव में भी वह दीख आता है। मैं मैट्रिक की तैयारी में हूँ और विलायत की पत्रिकाओं में झाँकने का अधिकार पा गया हूँ। देखता हूँ कि उनमें कितनी ही सुन्दरियों के चित्र हैं। किन्तु मुझ से पूछिए तो सब एक उसी चेहरे के हैं। कोई सुन्दरता उस चेहरे से बाहर हो नहीं सकती। जहाँ सुन्दर है, वहीं वह चेहरा है। इसीलिए उस चेहरे की आकृति-प्रकृति निश्चित नहीं है। मानुषी नहीं, वह देवी है। किसी परी की मूरत कभी रेखाओं से घिरी नहीं हो सकती, अपने आस-पास को अपनेपन से वह मुखरित किये रहती है, इसलिए उसके साथ वह तत्सम होती है। उसका शरीर सपने का है, और ओस, और हवा का।

मैं बैठा हूँ, बैठा पढ़ रहा हूँ। क्या पढ़ रहा हूँ ? मालूम नहीं। पढ़े जा रहा हूँ। कोई आया, कोई झाँका, कोई गया,—लेकिन मैं पढ़ रहा हूँ। वह कोई माँ के पास पहुँचा। वहाँ से एक साथ खिलखिलाहट उठ कर लहराती व्याप गई। लेकिन इम्तिहान मैट्रिक का है और मुझे पढ़ना है। किताब में मैंने आँख गाड़ रखी। माँ के पास से खिलखिलाहट के बाद किसी की बातें आईं, लेकिन मेरे कान बन्द थे।

"रानी, कहाँ है तेरी कापी ?"

"कापी ?"

"हाँ, उसी में तो डिज़ाइन थे।"

"उस कमरे में है।"

"तो जा के ले आ।"

कोई आया मेरे कमरे में; लेकिन मुझे इम्तिहान के सिवाय किसी को देखना न था। लेकिन कोई आ रहा है। चलता हुआ नहीं तिरता हुआ आ रहा है। पाँव हैं पर धरती को वे नहीं छूते। अधर में वे आप ही आप चलते हैं।

"उई।"

इस "उई" पर मैंने ऊपर देखा था। मेरे देखने पर 'उई' हुई, कह नहीं सकता। पर गोरा रंग वह, देखते-देखते सिन्दूरिया हुआ और चेहरा खम खा गया।

मैंने इम्तिहान को अपने मन में आँख डाल कर कस के बाँध लेना चाहा; लेकिन वहाँ वह चेहरा उतरता जा पहुँचा था। पन्द्रहवें बरस की बात है, आज पचपनवाँ चल रहा है। चालीस बरस हो गये। हर बरस में दिन ३६५ होते हैं। पर उस दिन भीतर पहुँचा वह चेहरा, आज तक वहाँ से बाहर नहीं हो सका है। न रंग उसका बदला है, न रूप। लेकिन वह रंग-रूप क्या है, मैं कह नहीं सकता। लेकिन आप में से किसने वह नहीं देखा ? अपने पन्द्रहवें में नहीं, तो जरूर उसके आस-पास आपने उस चेहरे को देखा है। मैं पूछूँ तो आप ही क्या बताइयेगा कि वह क्या है ! सभी अपने समय उसे देखते हैं, लेकिन क्या कोई उसको बाँध पाता है ?

'रानी' उसका नाम था। नाम दूसरा हो क्या सकता है। पड़ोस में अपने से लगा हुआ उसका घर था। इम्तिहान हुआ और मैं पास हो गया। दो महीने के लिए इधर-उधर पहाड़ों की सैर करता फिरा। अब कालेज खुलेंगे और "फर्स्ट-इयर" में दाखिल होना होगा। सोच लिया कि उस पड़ोस में नहीं रहूँगा। भला कैसे रहा जाएगा ? दूर काले पानी के किसी कालेज में चला जाऊँगा। इरादा पक्का करके घर लौटा। जून का महीना सरकने को था। उस साल बादल जल्दी घुमड़ना शुरू हो गए थे। कड़े ताप के बाद ऊदे काले बादल रह-रहकर ऊपर आसमान में

आ घिरते और मैं, मकान की तिमंज़िली छत पर बादलों की आगवानी पर बिना डैने-मारे, समतोल उड़ती हुई चीलों को देखने ऊपर आ पहुँचता। विश्वास मानिये, चीलों को ही देखता। नहीं, नहीं, देखता उस चेहरे को, जो अक्सर पास वाली छत पर कभी फर्श पर झुके, कभी सामने के सूने में टक लगाये और कभी उमड़ती-घुमड़ती घटाओं में लीन यहाँ से वहाँ डोलता रहता। उस समय उस चेहरे पर कुछ न होता, न हँसी, न मुस्कान। एक भीगी उदासी उस पर पुती होती। एक गहरा अनमनापन, जाने कैसी मटमैली स्याही में उस पर लिखा होता। लेकिन मैं कहता हूँ कि यह मैं देखता नहीं। देखता था तो बिना आँख देखता था। आँख बरबस कभी उठती तो तत्क्षण में उसे गिरा लेता। रानी भी नहीं देखती थी, क्योंकि वह भी उठती आँख को उठा न पाती, कि तभी गिरा लेती। मैंने बिना ठीक तरह देखे उस उदासी की अनमनी स्याही के अक्षरों की भाषा को पढ़ना और समझना चाहा। पर अक्षर खो जाते थे, भाषा लिप-पुत जाती थी, और अर्थ हाथ आने से रह जाता था।

सहसा देखा कि जूड़ा खुल गया है। ओफ़्! जैसे सब-कुछ उन बालों में ढक गया। सिर से लेकर एड़ी...लेकिन नहीं, एड़ी बाकी रही; क्योंकि उन एड़ियों के बल वह टहलती रही। उन एड़ियों के आगे पाँवों में उँगलियाँ होंगी, लेकिन वे उँगलियाँ मुझे दीखी न थीं; क्योंकि वे मेरी ओर न थीं, और साड़ी की किनार में वह छिप-छिप जाती थीं। चलते-चलते देखा, वह एक खटोले पर बैठ गई। बैठ कर किताब खोल ली जो अब तक बन्द थी। किताब खुली कि उनकी निगाह..."हाय राम!".... फौरन झुक कर कोयला लेकर छत के फर्श पर मैं एलजब्रे का सवाल निकालने में लग गया। सवाल बेहद, बेहद मुश्किल था। अवश्य वो त्रिकाल में हल नहीं हो सकता। क्योंकि इन चालीस बरसों के अन्तराल में उसकी कठिनाई किसी भी ओर से अब तक तनिक कम नहीं हो पाई है।

लेकिन यह क्या ? यह कौन है ? पता नहीं मैं हिसाब के हल में हूँ। दूसरी कंकड़ी गर्दन के पास आकर लगी। मैंने सिर ऊपर उठाया। सवाल बेहल रहा, और मैंने देखा, कहीं कोई नहीं। चेहरा किताब में गड़ा है, और बालों में ढका है। लेकिन मैं यों हार न सका। कंकड़ी निशाना साध कर फेंकी। टप से ऐन किताब के बीच में वह पड़ी। चेहरा वह उठा, चढ़ी त्योरी और तनी भवें। चुनौती अब मुझ में से हँस पड़ी। मैं चेहरे की ओर मुस्कराया।

उधर भवें और बाँकी पड़ीं, त्योरियाँ कसीं। मैंने एलजब्रे के सवाल के हल में लगे कोयले के टुकड़े को उठा कर चेहरे की भेंट के लिए फेंका। वह रानी के चेहरे को, उठे मुँह को न पा सका, जाकर रानी के चरणों में पड़ा।

त्योरियाँ हट गईं, भवें खुल गईं, बालों को उसने पीछे किया। हाथ हटा तो देखा, छिपा चाँद बादलों में से अब एक साथ उजला होकर हँस आया है। वह चेहरा जल्दी झुका नहीं, फीकी मुस्कराहट में मेरी ओर मुस्कराता उठा रहा और मैं भी एलजब्रा भूल गया। और उस चेहरे को टक भर देखता ही रहा।...फिर याद पड़ता है, एक तीखी आवाज़ पड़ी—

"रानी, जगरानी, ओ जग्गो !"

रानी ने जैसे सुना नहीं। चेहरे पर मुस्कराहट फैली रही और वह उसी तरह उठा रहा।

"ओ जग्गो की बच्ची ! कहाँ मर गई, कम्बख्त ?"

चेहरा मुस्कराता ही रहा। मुस्काहट किस ओर थी ? छतों पर कोई और न था। ऊपर बादल थे, जो पानी से भरे थे और बाट में खड़े थे। मैंने इधर-उधर देखा। यह अजस्र मुस्कराहट का दान क्या मुझ निज के लिए है ? मैं कृतार्थता से जैसे नहा आया, लेकिन उस पन्द्रह

वर्ष की अवस्था में भी मैं अनुभव कर सका कि मैं तो नितान्त नगण्य उपलक्ष हूँ। इस निरपेक्ष और म्लान-मन्द स्मिति का अर्घ्य तो इस दिग्दिगन्त व्यापी शून्य को समर्पित किया जा रहा है जो सबको लील जाता है और हम जैसे प्राणियों के सुख अथवा दुःख के प्रति एक साथ आ सकता है।

मालूम हुआ चीख़ बढ़ती जा रही है और पास आती जा रही है—"ओ जग्गो...कम्बख्त...कलमुँही..."

मैं घबरा रहा हूँ; लेकिन चेहरा मेरी ओर हँस रहा है। धमाके के साथ एक स्थूल-काया प्रौढ़ा छत पर आविर्भूत हुई। जान पड़ा चेहरे को कोई अधीरता नहीं हुई। उसकी मुस्कराहट म्लान होकर भी अम्लान थी। उस चेहरे ने उठा कर मेरी ओर अपने दोनों हाथ जोड़े। उनसे मैंने संकेत पाया कि मैं पूजा लूँ और तत्क्षण बिदा हो जाऊँ। संकेत अचूक था। उल्लंघन हो नहीं सकता था। मैं उठा और तेज़ी से एक ओर सरक गया।

"राँड, कुलबोडन, सत्यानासन, किससे आँख लड़ा रही है?"

सब-कुछ कानों ने सुना, लेकिन आँखों ने भी बिना उधर देखे देख लिया कि प्रौढ़ा अभिभाविका ने उसके खुले सिर के बालों को एक पंजे की मुट्ठी में पकड़ कर चेहरे को ढकेलना और लतियाना शुरू कर दिया है, जो कि स्पष्ट आवश्यक और उचित कार्य है।

फिर क्या हुआ? वही हुआ जो होना चाहिए। यानी वैश्य और खत्री जातियों में सम्बन्ध नहीं होना चाहिए था, नहीं हुआ। खत्री कन्या का सम्बन्ध खत्री जाति में ही होना चाहिए था, और तदनुसार विधान और सिद्धान्त की रक्षा में शीघ्रता के साथ व्यवस्था कर दी गई।

वह चेहरा सदा-सदा अवतरण लेता है, निश्चय ही वह एक-रूप नहीं है, एक-रंग नहीं है। पर सदैव वह एकात्मा है। नियुक्त समय पर वह सबको दीखता है और शायद घर-घर होता है। वह चेहरा आँखों के

भीतर पहुँचे बिना नहीं रहता और वहाँ से फिर वह मिटना नहीं जानता। अभी तो मेरा वर्ष पचपनवाँ है। शतायु भी हूँ, तो क्या वह हिल सकेगा ? डिग सकेगा ? नहीं, भगवान् ने चाहा तो वह सम्भव नहीं है। न आप में से किसी के साथ, आप कितना ही चाहें शायद वह सम्भव बन सकेगा।